

सहजानंद शास्त्रमाला

## समयसार प्रवचन

एकादश भाग

(बंधाधिकार - गाथा 265-286)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'समयसार प्रवचन एकादश भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थको पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल [www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org) पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

## Contents

गाथा २६५ .....	4
गाथा २६६ .....	11
गाथा २६७ .....	14
गाथा २६८ .....	20
गाथा २६९ .....	27
गाथा २७० .....	30
गाथा २७१ .....	42
गाथा २७२ .....	47
गाथा २७३ .....	52
गाथा २७४ .....	55
गाथा २७५ .....	59
गाथा २७६ .....	63
गाथा २७७ .....	Error! Bookmark not defined.
गाथा २७८ .....	69
गाथा २७९ .....	Error! Bookmark not defined.
गाथा २८० .....	75
गाथा २८१ .....	83
गाथा २८२ .....	87
गाथा २८३ .....	95
गाथा २८४ .....	97
गाथा २८५ .....	105
गाथा २८६ .....	Error! Bookmark not defined.

## समयसार प्रवचन - एकादश भाग

बंधाधिकार की गत ३० गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि बंध का कारण बाह्यवस्तु अथवा बाह्य वातावरण नहीं है, किन्तु अपने आपमें जो राग द्वेष मोह विभाव होता वह बंध का कारण है। इस बात को जीवन-मरण सुख दुःख आदिक कर्मोदय से बताकर भी सिद्ध किया है। अब इसके बाद यह शंका होना साधारण जनों को प्राकृतिक है कि क्या बाह्य पदार्थ कोई दूसरा बंध का कारण नहीं है। ऐसी शंका उपस्थित होने पर यह समाधान दिया जा रहा है कि बाह्य वस्तु दूसरी कोई बंध का कारण नहीं है इसमें रंच शंका नहीं है।

### गाथा २६५

**वत्थुं पदुच्च जं पुण अज्ज्ञवसाणं तु होइ जीवाणं ।**

**ण य वत्थुदो य बंधो अज्ज्ञवसाणेण बंधोत्थि ॥२६५॥**

परमार्थ, निश्चय और व्यवहार बन्ध—जीवों के अध्यवसान परवस्तु का आश्रय करके होते हैं। पर वस्तु से बंध नहीं होता। बंध अध्यवसान से ही होता है। भैया! प्रथम तो बंध यह है कि आत्मा के सामान्य भाव में विशेष भाव का बंधना सो यह तो वस्तु का स्वभाव है। जितने भी पदार्थ है उन सब पदार्थों में उनका परिणमन होता है और वह परिणमन अपने समय में तादात्म्यरूप से रहता है और बाद में विलीन हो जाता है। वह बंध तो वस्तु का प्राकृतिक तत्त्व है। अब उन ही परिणमनों में जो परिणमन आत्मा के स्वभाव के अनुरूप नहीं है, स्वभाव से विपरीत है ऐसे परिणमनों का इस आत्मप्रदेश में आना यह प्रकृत बंधन है निश्चय से तथा इस आत्मा के निश्चय बंध का निमित्त पाकर नवीन जो पौद्गलिक कर्म है उनका आना और बँधना यह है व्यवहार से बंध।

पराश्रयतापूर्वक अध्यवसान का निर्माण—उस बंध के कारणभूत आत्मा के जो अध्यवसान हुए हैं उन अध्यवसानों में ऐसा निर्माण है कि किसी न किसी पर वस्तु का विकल्प करके ही ये अध्यवसान होते हैं। किसी से कहा जाये कि तुम राग तो करो मगर किसी पर वस्तु का ध्यान न रखो, तो किसी पर वस्तु का ध्यान किए बिना राग हो ही नहीं सकता। परवस्तु का आश्रय किए बिना राग हो जाये तो उस राग का स्वरूप क्या? क्या हुआ वहां राग में? तो किसी वस्तु विषयक स्नेह होता है और कोई वस्तु इसने उपयोग में ली नहीं तो राग क्या हुआ? यावत् मात्र अध्यवसान होता है, वह पर-पदार्थों का आश्रय करके होता है, इस कारण यह भ्रम न करना कि परवस्तु ने मुझे बांधा है। परवस्तु तो मेरे बंधन में आश्रयभूत है, बंधन तो मेरा मेरे परिणाम से है। अध्यवसान ही बंध का कारण है। बाह्यवस्तु कोई भी बंध का कारण नहीं है। बाह्य वस्तु तो बंध के कारण का कारण है।

**अन्तर्बाह्य उपाधिपरिहार—**बंध का कारण है अध्यवसान और अध्यवसान का बाह्य हेतु है आश्रयभूत

बाह्य पदार्थ । बाह्य पदार्थ तो मात्र बंध के कारण का कारण बनकर चरितार्थ हो जाते हैं अर्थात् इससे अधिक बाह्यवस्तु का और कुछ उपयोग नहीं है । राग में बाह्यवस्तु विषयभूत हुई । बंध का कारण तो मेरा रागभाव है । इस कारण बाह्य वस्तु का प्रतिषेध तो किया है, परन्तु चँकि अध्यवसान होने पर बाह्यवस्तु का त्याग करके भी बाह्यविषयक परिणाम का विकल्प है तो वहाँ राग तो चल सकता है, न निकट हो सामने, किन्तु ख्याल में उपयोग में आयेगा तो राग उत्पन्न हो सकता है । इस कारण चरणानुयोग पद्धति से बाह्य वस्तुओं का तो त्याग करना ठीक ही है, पर यह भी ध्यान रखना कि मेरा अहित करने वाला मेरा राग भाव है, रागभाव मेरा स्वभाव नहीं है, वह विकृत भाव है, उससे विविक्त मेरा चैतन्यमात्र स्वभाव है । सो स्वभाव का आश्रय करके रागपरिणाम से उपेक्षा करना है ।

**मानसिक पराश्रयता की भी त्याज्यता**—राग को अहितरूप माने तो इस जीव को चरणानुयोग की पद्धति से बाह्य वस्तु का त्याग करने के बाद उसे अवसर उत्तम मिलता है । पुष्पडाल अपनी स्त्री छोड़कर चले गए, विरक्त हो गए फिर भी वियोग में स्त्री का चिंतन किया । तो बाह्य त्याग तो किया पर आश्रय न छूटा । बाह्य वस्तु सामने ही हो तब ही आश्रय हो, ऐसा नहीं है । बाह्यवस्तु देखी हो, सुनी हो, अनुभव की हुई होवे सब आश्रयभूत हो सकती है तो जब तक उनका शल्य नहीं गया तब तक उनके ज्ञान का उदय नहीं हुआ । जब वारिषेण मुनिराज ने उपाय करके वह घटना बनायी कि अपने छोड़े हुए घर भी गए, बड़े वैभव और शृङ्खार के बीच पुष्पडाल को दिखा दिया । तब पुष्पडाल की समझ में आया—ओह ! यह महापुरुष ऐसे वैभव का त्यागकर आत्मसाधना कर रहे हैं तो मैं एक कानी स्त्री का ख्याल करके अपना साधुपन बिगाड़ रहा हूँ । ज्ञान का उदय हुआ, आश्रय मिटा ।

**बन्ध के मूल हेतु की उपेक्षा**—सो भैया जब यह दृष्टि होती है कि बाह्य वस्तु ही मुझे बांध रही है तो बाह्य वस्तु का त्याग करके भी ज्ञान का उदय नहीं हो पाता है और जहाँ यह ध्यान है कि मेरा बंधन तो मेरा स्नेहभाव है तो उसकी उपेक्षा के यत्र में बाह्य वस्तु का भी त्याग होता है और अन्तर में रागादिक भावों का भी परिहार होता है । यहाँ सिद्धान्तरूप में बात रखी गयी है कि अध्यवसाय ही बंध का कारण है और बाह्यवस्तु तो बंध के कारणभूत अध्यवसान का हेतु हो जाये, निमित्त हो जाये इतने ही मात्र से चरितार्थ हो जाता है । यहाँ तत्त्व यह कहा जा रहा है कि बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं, पर चरणानुयोग में यह ही बात कही जायेगी बाह्य वस्तु के त्याग की मुख्यता से कही जायेगी और अध्यात्मशास्त्र में यह बात कही जा रही है तो अध्यवसान का हेतुपना सिद्ध करने के लिए कही जा रही है । तभी तो चरितार्थ शब्द दिया है कि बाह्य वस्तु बन्ध के कारण का कारण बन करके चरितार्थ हो जाती है ।

**चरितार्थता व प्रश्नोत्तर**—चरितार्थ का अर्थ है अपना काम समाप्त कर देना, अपना प्रयोजन खत्म कर लेना, सिद्ध हो गया सब उसका जितना मात्र प्रयोजन है । इतनी बात सुनकर शंका होती है, तो फिर बाह्यवस्तु का निषेध क्यों किया जाता है ? इस गाथा में जोर इस बात पर दिया है कि हम अध्यवसान का प्रतिषेध करें व अध्यवसान रहित जो निजज्ञायकस्वरूप है उसका आश्रय करें । इतनी बात समझाने के लिए बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है यह कहा गया है । तब शंका होती है कि जब बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं

है तो उसका निषेध क्यों कराया जाता है, फिर तो घर में रहो, जो चाहे करो, अपने स्वभाव का आश्रय लो, रागभाव दूर करो, निर्वाण पावो । फिर बाह्य वस्तु के निषेध की प्रक्रिया क्यों है? उत्तर देते हैं कि अध्यवसान के निषेध के लिए ।

**बाह्य वस्तु के त्याग का प्रयोजन—अध्यवसान का आश्रयभूत है बाह्यवस्तु** । क्योंकि बाह्य वस्तु का आश्रय किए बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को नहीं पा सकता । कौन-सा परिणाम ऐसा है कि जिसमें परवस्तु ध्यान में न हो और राग हो जाये ? बाह्यवस्तु का आश्रय किए बिना अध्यवसान होता ही नहीं है । जैसे संग्राम में कोई वीर पुरुष उत्साह से भरकर यहीं तो कहेगा कि मैं आज वीर पुत्र की जननी के पुत्र को मारूँगा, पर कोई क्या ऐसा भी कहता है कि आज तो मैं बांझ के लड़के को मारूँगा ? बांझ के कोई लड़का ही नहीं होता है । तो उसका आश्रय कैसे करेगा? जैसे लोग मजाक में औषधि बताते हैं ना, क्यों पंडित जी कि धुँवा की कोपल, आकाश की छाल पीसकर खा पी लो, ठीक हो जायेगा । तो धुँवा में कोपल और आकाश में छाल होती है क्या? नहीं । अध्यवसान जितना होगा वह किसी परवस्तु का आश्रय करके होगा ।

**निराश्रय अध्यवसान का अभाव—जैसे संग्राम में कहा कि मैं आज वीर जननी के पुत्र को मारूँगा ऐसा तो अध्यवसान होता है क्योंकि वीर जननी का पुत्र हुआ करता है । पर यदि बाह्य वस्तु का आश्रय किए बिना भी यह अध्यवसान हो जाये तो ऐसा भी अध्यवसान होना चाहिए कि आज मैं बांझ के पुत्र को मारूँगा ? क्यों नहीं होता है कि कोई बांझ के पुत्र नहीं होता है । आश्रयभूत का सद्भाव नहीं है तो वह बंध कैसे हो जायेगा । अध्यवसान आश्रय रहित होकर होता ही नहीं है । इस कारण अध्यवसान का आश्रयभूत जो बाह्य वस्तु है उसका अत्यन्त प्रतिषेध किया गया है । बाह्य वस्तुओं का संन्यास करते हुए अपने आपमें ऐसा भाव रखो कि बाह्यवस्तु का त्याग तो अध्यवसान के आश्रय से हटाने के लिए था, सो अब इस मन से बाह्य अर्थ का चिंतन भी न करना चाहिए । यह बात सुगम तब होती है जब समस्त परवस्तुओं से, परभावों से विविक्त शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपके सत् के कारण जो स्वयं इसका स्वरूप है तन्मात्र अपने आपका आश्रय हो तो रागादिक अध्यवसान का त्याग सुगम है ।**

**शुद्ध रम्य तत्त्व के ज्ञान की आवश्यकता—जीव को कोई न कोई रमने का साधन चाहिए । जैसे बच्चे को खिलौना चाहिए । यदि उसका कोई निजी खिलौना नहीं है तो वह किसी दूसरे के खिलौने को देखकर रोकेगा । उसे उसका खिलौना मिल जाये तो दूसरे के खिलौने के लिए उसका रोना समाप्त हो जायेगा । इस जीव को भी अपने स्वरूप का बोध हो और उसके स्वरूप में स्थित करने का जो अलौकिक सहज आनन्द जगता है उसका यथायोग्य अनुभवन हो तो इस अनुभव के बाद फिर बाहरी समागम, इन्द्रियविषय ये सब उसे असार जंचते हैं । तो दोनों चीजें चलते रहना चाहिए, बाह्य वस्तु का भी परिहार और अन्तर में अपने आपका जो केवल स्वरूप है अर्थात् अपने ही सत्त्व के कारण अपने आपका जो लक्षण है उसका भी ज्ञान, उसकी उन्मुखता ये दोनों कर्तव्य ध्यान में रहने चाहियें ।**

**निजपरिचय बिना शान्ति की अगति—भैया !** यदि केवल बाह्य वस्तु के त्याग का ही ध्यान है और अन्तर में अपने आपके उस लक्षण का परिचय नहीं है कि त्याग करके मुझे जाना कहां है, किस ओर रमना

है, क्या करना है ? इस बात का पता नहीं होता है तो, हालांकि बाह्य वस्तु के त्याग में इस बात का पता होने का सुगम अवसर मिलता है, पर न मिला हो ज्ञान यदि बाह्य वस्तु का त्याग करके तो अब कहां लगे ? ऐसा मार्ग न मिलने से उसकी गति रुक जाती है। अतः बाह्य वस्तु को अध्यवसान का आश्रयभूत समझो । साक्षात् बाधक तो मेरे लिए मेरा अध्यवसान है । मेरा स्वरूप तो शुभ अशुभ भाव से रहित केवल चैतन्यमात्र है, ज्ञाताद्रष्टा रहना इसकी शुद्ध प्रकृति है ऐसा जानकर अपने आपकी ओर उन्मुख होना, परवस्तुवों से विमुख होना, मन से भी चिंतन छोड़ना, ये सब चरणानुयोग और अपने आपकी उन्मुखता ये दोनों पालन के योग्य हैं । हालांकि चरणानुयोग केवल बाह्यवस्तु के त्याग के लिए नहीं कहता, बाह्य वस्तु आश्रयभूत है सो बाह्य वस्तुवों को छोड़ो और अन्तर में भी परिहार करो ।

हेतु के निषेध से हेतुमान का भी निषेध—हे आत्मन् ! अपने अंतःस्वभाव में भी चलो क्योंकि आनन्द होगा तो यहां से ही होगा और यहाँ की उन्मुखता करने पर बाह्य वस्तुवों का विकल्प भी न रहे ऐसी स्थिति में शांति और आनन्द प्राप्त होता है । यह स्थिति जिस किसी भी क्षण मिलती है, दिखती है तो उसके स्मरण के प्रताप से इस असंयम की स्थिति में भी अथवा **संयम** की स्थिति में भी उसे बहुत कुछ अनाकुलता रहती है । और प्रतीति की अपेक्षा तो एक मध्यमरूप से अनाकुलता तो रहती ही है । तो ये बाह्य वस्तु अध्यवसान का आश्रयभूत है । इस कारण इनका त्याग चरणानुयोग में बताया गया है अर्थात् कर्तव्य है कि हम बाह्य वस्तु का परित्याग करें । इसलिए ही अध्यवसान के आश्रयभूत बाह्यवस्तु का निषेध किया है । हेतु का निषेध करने से हेतुमान का भी निषेध होता है ।

**बाह्यमलत्याग बिना अन्तर्मल का अत्याग—भैया !** ऐसा किसी के भी नहीं होता कि बाह्य का तो परिहार न करे और अन्तर का मोह दूर हो जाये । जैसे दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि धान में जो चावल होता है उस चावल का बाहरी मल छिलका और चावल का भीतरी मल जो चावल की ललाई जैसी लगी है, जो फूटने पर पतली धूल रूप से निकल जाता है । तो छिलका न निकालें और चावल के भीतर की ललाई को निकाल दें ऐसा नहीं होता है । उसकी विधि यह है कि छिलका दूर हो और फिर अन्दर का मल भी दूर हो । इसी तरह हमारे बंध का कारणभूत जो विभाव है अथवा विभाव के आश्रयभूत जो बाह्यवस्तु है, उस बाह्यवस्तु का परिहार करो और अन्तरमल जो विभाव है उस विभाव से रहित चैतन्यस्वरूप की दृष्टि करके उस विभाव से अपनी उपेक्षा बनाएँ, यह बंध के निषेध का उपाय है ।

केवल अध्यवसान की बन्धहेतुता का समर्थन—फिर इसी का और समर्थन करते हुए कहते हैं कि बंधक कारण के कारण का सद्भाव होने पर भी अर्थात् बाह्य बात होने पर भी बंध का कारण नहीं होता, ऐसी भी स्थिति होती है । जैसे ईर्यासमिति से चलते हुए साधुवों के पैर से कोई कुन्ठू जीव का विघात हो जाये तो ऐसी स्थिति में चूंकि वहां सावधानी की अवस्था है और अध्यवसान परिणाम नहीं है, अज्ञान नहीं है, ऐसी स्थिति में विघात होने पर भी वह बाह्य बात बंध का कारण तो नहीं बना । इससे यह जानना कि बाह्य वस्तु बंध के कारण का कारण है । इसी कारण बाह्य वस्तु बंध के हेतुपने में अव्यभिचारी नहीं है अर्थात् बाह्य वस्तु होने से बंध ही हो, ऐसा नहीं है ।

**अपना कर्तव्य**—यह परिणाम बाह्य वस्तु का आश्रय करके बंध का कारण बनता है, इसलिए बुद्धिपूर्वक जब तक राग की हमारे में योग्यता होती है, हमारा कर्तव्य है कि हम उस बाह्य वस्तु का परिहार करें और यथार्थ यह जानकर कि यह अध्यवसान भाव मुझे बंधन में डालने वाला है, संसार में घुमाने वाला है, यह मेरा स्वभाव नहीं है, इससे मेरा हित नहीं है। राग किया तो क्या पूरा पड़ा, अथवा कोई लोगों में अपनी पोजीशन की बुद्धि रखी तो क्या पूरा पड़ा? पूरा तो पड़ेगा आत्मा के विभावशून्य निज ज्ञानज्योतिमात्र स्वरूप के अनुभव में। इसलिये सब प्रयत्न करके अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होना यही अपना कर्तव्य है।

**बंध का बाह्य वस्तु के साथ अन्वयव्यतिरेक का अभाव**—बंध का कारण क्या है यह प्रकरण चल रहा है। बंध का वास्तविक कारण अध्यवसान परिणाम है रागद्वेषमोह भाव, किन्तु रागद्वेष मोह का जो निर्माण होता है वह किसी न किसी परवस्तु का विषय करते हुए होता है। ऐसे कोई रागद्वेषादिक नहीं है जिनमें परवस्तु का विषय न हो और हो जाये। तब वह तो परवस्तु है जिसका विषय होता है रागद्वेषादिक में वह बाह्यवस्तु वास्तव में बंध का कारण नहीं हैं किन्तु बंध के कारण का कारण है, क्योंकि बाह्य वस्तु का रागद्वेष भाव के साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं है। बाह्यवस्तु के बिना भी बंध हो जाता है और बाह्यवस्तु सामने है तब भी बंध नहीं होता है। इतना तो निश्चित है कि बाह्य वस्तु का विषय जब तक यह जीव नहीं करता तब तक राग नहीं हो सकता। किन्तु बाह्य वस्तु सामने न भी हो फिर भी बंध हो जाता है।

**बाह्य वस्तु के साथ बन्ध के अन्वयव्यतिरेक के अभाव के उदाहरण**—जैसे आपका घर मकान ये कहां सामने है? फिर भी राग बसाते हुए यहाँ चल रहे हैं। कोई जीव घर गृहस्थी का त्याग कर दे, साधु हो जाये फिर भी घर का चिंतन रहे तो घर त्याग देने पर भी बंध चल रहा है। पर का आश्रय जरूर है। मन में घर का कुछ ख्याल रहे तो बाह्यवस्तु न भी हो तो भी बंध है, बाह्य वस्तु सामने हो तब भी बंध है, नहीं हो ऐसा भी हो जाता है। जैसे साधु हो गए, उसके सामने परिवार के लोग बैठे हैं, दर्शन करने आए हैं, बैठे रहे पर बंध नहीं है। सामने तो हैं वे ही निमित्त जो पहिले थे पर बंधन अब नहीं है। और जैसे मुनिराज ईर्यासमिति से विहार करते चले जा रहे हैं, बड़ी सावधानी से, बड़े शुद्ध भाव से और उनके चलते हुए में कोई अचानक कुन्त्यु जीव गूजर गया, पद तले आ गया, इतना हो जाने पर भी मुनि के बंध नहीं क्योंकि न उनमें अज्ञानता थी, न उन्माद था, सावधानी से चल रहे थे, आशय भी निर्मल था, सो बंध नहीं होता है।

**आश्रय और उपेक्षा**—अध्यवसान का अन्वयव्यतिरेक बाह्य के साथ नहीं है मगर कर्मप्रकृति के साथ है। कर्मप्रकृति का उदय हो तो वहाँ बंध है, न उदय हो तो वहाँ बंध नहीं है, इसलिए बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है। फिर भी बाह्य वस्तु का जो त्याग किया जाता है वह अध्यवसान के निषेध के लिए किया जाता है। न चीज होगी न राग द्वेष होगा, पर जिस चीज को देख लिया, सुन लिया या अनुभव में आ गया तो न भी सामने हो तो चिंतन करके राग कर सकते हैं। इस कारण ज्यादा अपने को लगाने का कहां यत्न करें, किसका निरोध करें? अपने आपमें जो निज शुद्ध चैतन्यस्वभाव है उसका आश्रय करें और रागादि विकारों की उपेक्षा करें, यह यत्न मेरा हितकारी है और साथ ही साथ चरणानुयोग की बुद्धि से भी बाह्य वस्तु का त्याग करें।

**स्वभाव व विभाव का भेद**—ये अध्यवसान परिणाम आत्मा के शुद्ध निर्दोष परमात्मतत्त्व से अत्यन्त भिन्न है, विपरीत है, रागादिक का जड़ स्वभाव है और अपने आत्मा का चैतन्यस्वभाव है। रागादिक का यद्यपि आत्मा में ही परिणमन होता है फिर भी राग का जो लक्षण है वह अचेतपना है। ज्ञान का जो लक्षण है वह चेतपना है। तो मेरा स्वभाव चेतपना है, अचेतपना नहीं है। जैसे दर्पण के सामने कोई चीज आ गयी तो दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब झलक गया, वह प्रतिबिम्ब दूसरी चीज की परिणति नहीं है, दर्पण की परिणति है, किन्तु दर्पण के स्वभाव से उठी हुई परिणति नहीं है। इस कारण ही दर्पण के स्वभाव में और वर्तमान परिणमन में भेद करने वाला ज्ञानीपुरुष भेद करता है। यह प्रतिबिम्ब दर्पण की चीज नहीं है। दर्पण की चीज तो स्वच्छता है। इसी तरह कर्मोदय का निमित्त पाकर आत्मा में जो रागादिक विकार हुए हैं सो वे विकार आत्मा के स्वभाव से नहीं हुए। वे हुए उपाधि का सन्त्रिधान पाकर। मेरा स्वभाव तो चैतन्यस्वरूप है इसलिए मैं चैतन्यरूप हूँ, विकाररूप नहीं हूँ, ऐसा अवधारण करना और रागादिक विकार को अहितरूप मानकर, हेय समझ कर उससे उपेक्षा करना और रागादिक का आश्रयभूत जो बाह्य पदार्थ है इस बाह्य पदार्थ का त्याग करना आदि। इस विधि से अपना जीवन चले, अपने ज्ञानस्वभाव का अवलोकन हो।

**प्रवेश के लिये त्याग, तोड़ और उपेक्षा—भैया !** अपने हित के लिए क्या करना है ? मूल में तो ज्ञान करना है। वह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूँ, इसकी जो वृत्ति होगी वह ज्ञाता द्रष्टा रूप वृत्ति होगी, पर उपाधि का सन्त्रिधान पाकर रागादिक विकार भी परिणम गए, लेकिन वह रागादिक मैं नहीं हूँ। मुझमें उपाधि के सन्त्रिधान से विभाव परिणम होता है। ऐसा जानकर रागादिक भावों से उपेक्षा करे, अपने ज्ञानस्वभाव में प्रवेश करे और इस कार्य के लिए बाह्य में बाह्यवस्तु का त्याग करे। बाह्यवस्तु का त्याग करना बाह्य वस्तु का विकल्प तोड़ना, रागादिक भावों से उपेक्षा करना ये तीनों बातें सहायक हैं। आत्मा के ज्ञानस्वभाव में प्रवेश करने में केवल बात-बात से ज्ञान का आश्रय नहीं होता है। करना होता है, करना क्या है ? यह ज्ञान और बाह्यवस्तु का परिहार।

**अतद्भाव में बन्ध की अहेतुता**—इस तरह यहाँ यह सिद्ध हुआ कि बाह्यपदार्थ जीव का अतः का है। यह खास जानने की बात है कि जो अतद्भाव है वह बंध का कारण नहीं है। ये घड़ी कागज आदि अलग पड़े हैं, ये जो पड़े हुए हैं ये जीव के द्रव्य नहीं, जीव के पर्याय नहीं, फिर जीव से जो अत्यन्त जुदे हैं वे बाह्य पदार्थ जीव के बंधन के कारण कैसे हो सकते हैं ? साक्षात् बंध का कारण राग होता है। आप यहाँ बैठे हैं—किसी चीज को देखकर राग हो गया तो पाप बँध गया। चीज बाहर है, पास नहीं है, पर आप बँध गए। किससे बँध गए ? चीज से बँध गए। अपने में जो राग कल्पना की है उससे बँध गये। योगियों को इसी ज्ञान के कारण मतिभ्रम नहीं होता। बाह्यवस्तु चूँकि जीव का अतद्भूत है इसलिए वे बंध का कारण नहीं हैं। तब अध्यवसान परिणमने याने रागद्वेष भाव ने, आत्मा के विकार ने बन्धन कराया क्योंकि यह विकार है जीव का तद्भाव। जीव का परिणमन जीव को बांध सकता है, अजीव का परिणमन अजीव को नहीं बांध सकता है। यह निश्चयनय से जीव का स्वरूप चल रहा है।

**प्रमाण में स्वतन्त्रता व निमित्तनैमित्तिकभाव दोनों का परिज्ञान**—जीव का राग परिणमन कर्मोदय के

निमित्त से हुआ और बाह्य वस्तु जीव के रागपरिणमन का आश्रय हुआ। इतने पर भी जीव का कर्म में और बाह्यवस्तु में कुछ परिणमन दखल नहीं है और कर्मों का, बाह्य वस्तु का जीव में कुछ दखल नहीं है, निमित्तनैमित्तिक भाव है। ऐसी सावधानी है जैनसिद्धान्त के ज्ञान की! स्वतंत्रता भी सुरक्षित रहे और निमित्तनैमित्तिक भाव भी परिज्ञता रहे। क्या वस्तु की स्वतंत्रता का घात करके निमित्तनैमित्तिक की दृष्टि में कुछ कल्याण कर लेगा यह जीव और क्या निमित्तनैमित्तिक भाव का खण्डन करके सर्व क्रियाएँ वस्तु के स्वभाव से ही होती है ऐसा मानकर क्या हम विकारों से उपेक्षा कर लेंगे? इस कारण निमित्तनैमित्तिक भाव भी ज्ञान रहे और वस्तु की स्वतंत्रता ज्ञात रहे।

**स्वतंत्रता व नैमित्तिकता के ज्ञान की साधकता—**वस्तु की स्वतंत्रता को परिज्ञान तो हमारे हित का प्राण है, उसे हम खोकर कहां जायेंगे? पर जिससे हमें अलग होना है उसकी पोल जब तक मालूम न पड़े तब तक हम उससे अलग कैसे हों अलग होना है हमें रागादिकभावों से। रागादिक न तो जीव के स्वभाव से उठे हैं और न क्रोधादिक बाह्य वस्तुओं से उठे हैं। कर्मों का निमित्त पाकर आत्मा में रागादिक भाव उठ गए, इसलिए इन रागादिकों का कोई अधिकारी नहीं है। किसको मालिक मानें? जैसे कोई लावारिस बच्चा सड़क पर धूम रहा हो तो उस लावारिस बच्चे से किसी की ममता नहीं होती है। वह बच्चा बरबाद होता फिरता है इसी तरह रागादिक भाव लावारिस है, खूब पहिचान लो। जीव के तो हैं नहीं रागादिक। जीव के स्वभाव से तो उठते नहीं हैं और अचेतन के भी ये रागादिक भाव नहीं हैं, इसलिए इन रागों का कोई अधिकारी नहीं है।

**अज्ञानी और ज्ञानी की मान्यता—**अज्ञानी मानता है कि मैं राग का स्वामी हूँ। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं राग का स्वामी नहीं हूँ जिनको यथार्थ ज्ञान नहीं है उनके राग होता है और उनके बंधन चलता है और जिनको यथार्थ ज्ञान है फिर भी कर्मविपाक के वश से रागादिक होते हैं तो भी राग में राग नहीं है, राग में एकत्व बुद्ध नहीं है। राग ही मैं हूँ ऐसा उनके भ्रम नहीं है। मैं रागरहित त्रैकालिक अखण्ड एक चैतन्यस्वभावमात्र हूँ, ऐसी अपने चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि होती है।

**विकल्प का मिथ्यापन—**भैया, यहाँ यह बतायेंगे कि आत्मा का मोहरागद्वेष बंध का कारण है और वह परिणाम, अध्यवसान मिथ्यारूप है? विपरीत है अथवा असत्य है। असत्य किस दृष्टि से है? जैसा हम सोचते हैं वैसा बाहर में होता नहीं है तो हमारा सोचना झूठ हुआ। वह सोचने रूप जो परिणमन है यह परिणमन तो है, पर वह परिणमन अपना काम नहीं कर पाता है। मैं जैसा सोचूँ वैसा बाहर में हो जाये, यह किसी को न हुआ, न होगा। उसमें कुछ न कुछ अन्तर पड़ता ही है। किसी ने सोचा कि यह काम होना चाहिए। तो वह काम उसी समय तो नहीं होता। दूसरे दिन होता है या कोई बड़ा समर्थ तो २ घंटे बाद हो गया। तो भी उसमें दो घंटे का अन्तर तो हो गया। किसी का एक मिनट बाद में ही काम हो गया। तो वह एक मिनट का अन्तर तो हो गया। किसी का और जल्दी काम हो गया तो भी कुछ समय का अन्तर अवश्य पड़ता है। क्योंकि इच्छा का भाव और भोगने का भाव थे दोनों भाव एक समय में नहीं होते हैं।

इच्छा और भोग का एक साथ योग का जमाव किसी की इच्छा है कि अमुक चीज खानी है तो उस

समय वह चीज कहां धरी है और जिस समय जिस चीज को खा रहे हैं उस समय वह चीज के प्रति यह इच्छा नहीं होती है कि वह चीज खाने को मिले । तो ये दोनों भाव एक साथ नहीं हो सकते हैं । ज्ञानीपुरुष यहीं तो सोचता है, सो उसको बाह्य पदार्थ की इच्छा नहीं होती है । क्या इच्छा करें जब इच्छा करें तब वह चीज मिलती नहीं और जब वह चीज मिलती है तो उसकी इच्छा नहीं होती है । फिर उस इच्छा से क्या लाभ है ? तो इच्छा करना मिथ्या हुआ ना, इच्छा करने का काम तो नहीं बना ना, इसी कारण ये समस्त अध्यवसान मिथ्या है, इस बात को इस गाथा में दिखाते हैं ।

## गाथा २६६

दुक्षिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।

जा ऐसा मूढमई णिरथ्या सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

अध्यवसान की बेकारी—मैं दूसरे जीव को दुःखी करता हूँ, छुट्टी करता हूँ, बांधता हूँ, छोड़ता हूँ, ऐसी जो मोहभरी बुद्धि है वह निरर्थक है, वह क्षोभ है क्योंकि मैं जैसा सोचूँ वैसा परपदार्थों में काम नहीं होता है । बच्चे के प्रति कौन ऐसा नहीं सोचता है कि मैं इसे खूब सुखी कर दूँ पर उस बच्चे के कोई रोग होता है तब दुःखी होता है, यों ही कल्पनाएं बनाकर दुःखी होता है । सारे आराम के साधन जुटा दो किन्तु उसका मलिन परिणाम है, मलिन भाव है तो उसकी तो अज्ञान की ही बात बनेगी दुःख की ही बात बनेगी । तो आपके सुखी सोचने से, सुख का यत्न करने से उसको सुख होगा यह बात नहीं है । उदय ही उसका अच्छा होगा तो वह सुखी होगा । आप उस बच्चे के सुखी करने के निमित्त होंगे ।

भैया ! जब से बच्चा पैदा हुआ, उसे गोद में लें खिलाएँ, उसकी बड़ी सेवा करें, बड़ा साज शृङ्गार करें, जैसा वह खाना चाहे वैसी ही पूर्ति करें, अनेक प्रकार से आप उसकी सेवा करें, तो अब यह बतलावों कि आपका पुण्य बड़ा है या आपके बच्चे का पुण्य बड़ा है । तो जिसका पुण्य बड़ा है उसकी आप फिकर करें यह कितनी उल्टी बात है ? अरे जो पुण्यहीन हो, दुःखी हो, दरिद्र हो उसकी फिकर करो । जो तुम से ज्यादा पुण्य वाला है उसकी चिंता न करो ।

पर के सुखी-दुःखी करने के परिणाम की बेकारी—मैं दूसरे जीवों को सुखी करता हूँ, यह मिथ्या परिणाम है क्योंकि मेरे सुखी करने के यत्न से मेरे सोचने के कारण दूसरा सुखी नहीं होता । मैं दूसरे जीवों को दुःखी करता हूँ, यह सोचना भी मिथ्या है क्योंकि मेरे सोचने के कारण दूसरा दुःखी नहीं होता है । जैसे पड़ौस में अनबन हो तो दूसरा पड़ौसी अपने मन में ही ईर्ष्या की बात, दूसरे के विनाश की बात सोचता रहता है । पर देखता वह यों है कि मैं तो ज्यों का त्यों हूँ और जिसका बुरा सोचता हूँ उसका अभ्युदय हो रहा है । एक तो सोचने से बुरा होता नहीं, दूसरे जो किसी का बुरा सोचता है वह दूसरा चाहे सामान्य स्थिति में क्यों न हो, उसे यों लगता कि यह तो बहुत बढ़ गया है । मैं दूसरे को दुःखी करता हूँ, ऐसा परिणाम करना मिथ्या है । व्यर्थ विकल्पों से तो अपध्यान बनता रहता है, केवल कर्मबंध ही हाथ रहता है । कोई बाह्य का कुछ परिणमन नहीं करता है, खुद कर्म बांध लेता है, खुद दुःखी होता है, खुद अपनी दुर्गति कर लेता ।

पर के बन्धन के आशय की व्यर्थता—मैं दूसरे को बांधता हूँ, यह अध्यवसान करना मिथ्या है। देखिये सीताजी का जीव प्रतीन्द्र बनकर रामचन्द्र जी को बांधने आया कि उनमें कर्म योग पैदा हो जाये, धर्म से विचलित हो जायें, मोक्ष अभी न जायें फिर साथ ही साथ मोक्ष जायेंगे। बांधने का बड़ा यत्न किया, मगर बांध भी सका क्या? नहीं बांध सका।

पर की मुक्ति करने के आशय की व्यर्थता—मैं दूसरे को मुक्ति भेजता हूँ, दूसरे की कर्मों से छुड़ाता हूँ, ऐसा भी कोई सोचे तो वह मिथ्या है। दूसरे का कितना ही यत्न करें उपदेश द्वारा या कुछ आग्रह करके, किन्तु उसका परिणाम यदि वीतरागता का नहीं बनता, शुद्ध सम्यग्ज्ञान का परिणाम नहीं बनता तो आप उसे मुक्ति कैसे भेज देंगे? उसका छूटना उसके ज्ञान और वैराग्य के कारण होगा, तुम्हारे सोचने के कारण न होगा।

**परविषयक सर्वविकल्पों का मिथ्यापन**—इस कारण मैं दूसरे को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बांधता हूँ, छुड़ाता हूँ, ऐसा सोचना मिथ्या है। जैसे कोई कहे कि मैं तो आज आकाश के फूल तोड़ूँगा तो जैसे उसका यह कहना बावलापन लगता है इसी प्रकार यह भी बावलापन है कि मैं दूसरे को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ क्योंकि पर के किये, ये पर में काम नहीं हो सकते हैं। जैसे कि आकाश से फूल तोड़ने का काम नहीं हो सकता है। जैसे आकाश से फूल तोड़ने के परिणाम में कोई अर्थ किया नहीं है इसी तरह दूसरे के दुःखी सुखी करने की, बिगड़ की कोई अर्थकिया नहीं है। इस कारण यह विकल्प करना मिथ्या है।

**अपना कर्तव्य**—भैया! तब क्या करना, अपने आपके सहजशुद्ध चैतन्यस्वरूप को जानकर इसको ही शरण मानकर, इसके ही उन्मुख होकर विकल्प जाल को तोड़ना, मोह जाल दूर करना और अपने सहज ज्ञानस्वभाव के अनुभव द्वारा तृप्त होना।

**सर्व पर की अरम्यता**—सारा जगत् बखेड़ा है, अनित्य है, मायारूप है, परद्रव्य है, विनाशीक है। इसकी प्रीति करने से हित नहीं होता, सुख नहीं होता। यह श्रम छोड़ो कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है खुद सोच लो। अध्यवसान का भाव उठता है, राग का विकल्प जगता है तो आपको सब अच्छा मालूम होता है। अभी देखो—पुरुषों को स्त्री का रूप अच्छा लगता है और सम्भव है कि स्त्री को पुरुष का रूप अच्छा लगता होगा। पर न तो पुरुष का रूप अच्छा है, न स्त्री का रूप अच्छा है। हड्डी, मांस, खून पीप आदि का ही तो यह पिंड है। बाहरी सजावट से कहीं मल तो नहीं मिट जाता, पर रागभाव का उदय होता है सो ये बाहरी पदार्थ उसे सुहावने लगते हैं। बाह्यपदार्थ सुहावने नहीं हैं।

**सौन्दर्य का भ्रम**—अच्छा, जरा विचार करो—मनुष्यों की दृष्टि से बात पूछते हैं। जैसे कि मनुष्य विकल्प करता है कि स्त्री का रूप अच्छा लगता है, पुरुष का रूप नहीं अच्छा होता, बाल भी आए, मूँछ भी आए, न लगता होगा पुरुषों को पुरुष का रूप अच्छा। मगर और जातियों में देखो। तिर्यञ्चों में गाय बैल हों तो उनमें से बैल का रूप कितना अच्छा लगता है? सिंह और सिंहनी में सिंह का रूप सिंहनी से अच्छा होता है। वहाँ पुरुष वर्ग में ही अधिक अच्छा रूप मिलेगा। हम यह नहीं कह रहे हैं कि स्त्री का रूप खराब

होता है। पर कामी लोगों को यह भ्रम है कि स्त्री का रूप अच्छा होता है।

**स्वहित की प्रेरणा—अरे भैया !** रूप क्या होता है कहीं हो, पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श है पर बुद्धिमान् पुरुष वह है कि ऐसे मलिन खोटे शरीर को पाकर कोई पवित्र काम कर जाये, धर्म का काम कर जाये। इस मन का ऐसा सदुपयोग करो कि आत्मस्वरूप का ज्ञान हो उसमें ही द्युकने का परिणाम हो, उसमें ही लीनता बने, यही हमारा कर्तव्य है। इसीलिए हम भगवान के दर्शन करते हैं कि हे प्रभो ! तुमने करने योग्य काम किया। हम तो अभी तक पाप में डूबे हैं। मेरा कैसे श्रद्धा हो। इतनी बात सीखने के लिए हम प्रभु के दर्शन करने आते हैं। यदि और अधिक न बन सके तो इतना तो करें कि अपनी गलती को गलती मान लिया करें, यह भी एक बड़ा कार्य है।

**अध्यवसान की अनर्थता—जितने भी ये अध्यवसान होते हैं वे पर के सम्बन्ध में कुछ परिणमन चाहने के विकल्प होते हैं।** सो यह मिथ्या है। क्यों मिथ्या है कि इन विकल्पों में जैसी चाह भरी है उसका सोचना तब सही है जब कुछ सोचूँ और वह काम हो जाये। हम अनेक प्रकार के विकल्प करते हैं, पर उनका परिणमन अपने आधीन है नहीं। तो विकल्प अपनी अर्थक्रिया नहीं करते, इस कारण से विकल्प मिथ्या है। मैं दूसरे जीव को दुःखी करूँ, सुखी करूँ, या बांध या छुड़ाऊं, जितने भी जो अध्यवसान है वे आत्मा के अनर्थ के लिए है क्योंकि जिस काल में विकल्प किया उस काल में आत्मा को संतोष नहीं है, तृप्ति नहीं है, शांति नहीं है, बल्कि क्षोभ ही रहता है। सो अध्यवसान करते हुए मैं तो क्षोभ है।

**अध्यवसान के अर्थक्रिया के अभाव का उदाहरण—जैसे कोई कहे कि मैं आकाश के पुष्प तोड़ता हूँ तो यह कहना द्यूठ है, क्योंकि जैसा विकल्प किया तैसा वहां पदार्थ है ही नहीं।** इसी तरह यहाँ भी दूसरे जीव के सुखी दुःखी आदि करने के परिणाम करें, जैसा हमने सोचा वैसा वहाँ है हो नहीं, इस कारण केवल क्षोभ के लिए ही विकल्प हुआ। सो अर्थक्रिया नहीं हुई, क्योंकि यह पूर्ण नियम है कि प्रत्येक पदार्थ किसी परपदार्थ का व्यापार नहीं करता। विकल्पों का जो स्वरूप बना है वह इसी से बना है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का जैसा परिणमन चाहता है वैसा होता नहीं है इसी से विकल्प बनते हैं। अपनी दृष्टि सही बनना चाहिए, हम पर क्या गुजरती है और हम कहां तक सफल हो पाते हैं यह अपने ज्ञान के अभ्यास पर निर्भर है, दृष्टि की दृढ़ता पर निर्भर है।

**सही ज्ञान की परमावश्यकता—भैया !** अब्रत अवस्था में भी यदि यह निर्णय बनाए रहें कि विकल्प जितने हैं वे आत्मा के अनर्थ के लिए हैं तो यह भी एक प्रकाश है। अपना कर्तव्य तो यह है कि सभी विकल्पों का परिहार कर शुद्ध आत्मा का आश्रय करें। इतनी ही सही यह बात अब्रत अवस्था में भी समझें जितनी कि छठे सातवें गुणस्थान वाले समझते हैं, बात के सही समझने में रंच भी कसर नहीं रखना तो यहां यह सिद्ध किया है कि जितने भी विकल्प है वह बाहर में काम न बनने के हैं इस कारण वे अपनी अर्थ क्रिया को करने वाले नहीं हैं। अब प्रश्न होता है कि क्यों नहीं है अपनी अर्थ क्रिया करने वाले ये अध्यवसान ? उत्तर देते हैं कि—

## गाथा २६७

**अज्ज्ववसाणणिमित्तं जीवा बज्ज्वंति कम्मणा जदि हि ।**

**मुच्चंति मोक्खमगे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ॥२६७॥**

**विकल्पों का मिथ्यापन—**मैं दूसरे जीवों को बांधता हूँ अथवा छुड़ाता हूँ, ऐसा जो परिणाम किया इसकी अर्थक्रिया क्या होनी चाहिए दूसरा बंध जाये या छूट जाये यह तो उस विकल्प की अर्थ क्रिया है ना । परंतु इसने तो अध्यवसान किया कि मैं दूसरे की बांधता हूँ और उस जीव का राग परिणाम होता नहीं तो कहा बंधा वह ? तुम्हारा सोचना गलत हो गया कि नहीं? हो गया । यहाँ यह बतला रहे कि विकल्प जितने हैं वे सब खाली हैं, रीते हैं, उनका काम नहीं बनता है और कदाचित् बन भी जाये । जिस समय में हमने यह परिणाम किया कि मैं इसको बांधू और उसी समय में उसका राग भाव बढ़ा सो बंध गया, तो वह भले ही बंधा, मगर मेरे सोचने के कारण वह बँध गया, सो बात नहीं है ।

**विकल्पों के मिथ्यापन का उदाहरण—**जैसे आपने अपने बच्चे को हुक्म दिया कि वहाँ चले जावो, दुकान का काम करो, और वह आपकी बात मानता है, चला गया तो आपके कहने के कारण वह नहीं चला गया । आपका कहना निमित्त तो जरूर हुआ किन्तु उसके ही परिणाम में आया कि मुझे जाना चाहिए सो वह चला गया । जैसे कोई बिल्डिंग बन रही है, उसमें किसी मजदूर से कहो कि यह ईंट ले जावो, तो वह आपके कहने से नहीं ले जाता । उसे स्वयं इच्छा है, उसे स्वयं यह दिखाना है कि हम इस तरह से काम करें तो हमें कुछ प्राप्ति होगी । तो अपने आपके परिणाम से प्रेरित होकर उसने कार्य किया । आपका कहना तो खाली है अर्थात् जैसा आप सोचते हैं, जैसा आप कार्य चाहते हैं उस विकल्प की अर्थक्रिया परपदार्थ में नहीं होती ।

**बंध मोक्ष का अपने परिणाम से ही अविनाभाव—**जीव अपने परिणाम पर को बांधने विषयक बनाए और फिर भी दूसरे के रागपरिणमन न आये, तो वह बँध नहीं सकता । हमने दूसरे को छुड़ाने का भाव किया और उसके वीतराग परिणाम नहीं आता तो वह छूट नहीं रुकता । हमारे अध्यवसान में दूसरे तो मेरे आश्रयमात्र रहते हैं । वस्तुतः जीव अपने ही अध्यवसान से बँधते हैं और अपने ही वीतराग परिणाम से मुक्त होते हैं । जिसके सराग परिणाम और वीतराग परिणाम हो तो दूसरा उसको बांधने का व छूटने का विकल्प न भी करे तो भी वह बंध जाता है व छूट जाता है । जैसे कोई साधु अपने वीतरागभाव से ज्ञानसुधारस के पान में लग रहा है तो वह मुक्त होगा । कोई दूसरा सृष्टि की बात सोचें तो वह मुक्त हो, ऐसा नहीं है ।

**मिथ्या का अर्थ स्वार्थक्रियाकारिता का अभाव—**यहाँ अर्थक्रिया की बात चल रही है । कोई पदार्थ किसी परपदार्थरूप परिणमता नहीं है । कोई पदार्थ किसी परपदार्थ में कुछ करता नहीं है, इस कारण यह अध्यवसान कि मैं दूसरे को सुखी करूँ, दुःखी करूँ, बांधू छुड़ाऊँ, ये सब मिथ्या हैं । मिथ्या का अर्थ है कि मेरे सोचने से वहाँ कुछ नहीं होता किन्तु मेरे सोचने से स्वयं में अपध्यान हुआ । दूसरे का खूब बुरा सोचें, अहित की बातें सोचें तो मेरे सोचने से वहाँ कुछ बिगाड़ नहीं होता । किन्तु यह मैं ही बुरा सोचकर अपना

अनर्थ कर लेता हूँ। हम दूसरे को सुखी करने की भावना करते हैं तो हमारे सोचने से कोई दूसरा सुखी नहीं हो जाता, पर मैंने दूसरे के सुख की भावना करके पुण्य बंध कर लिया।

आश्रय और निमित्त में अन्तर—भैया ! यहाँ एक बात खास जानने की है। दो तरह के पदार्थ हैं—१-आश्रयभूत और २-निमित्तभूत। इस जीव के सुख दुःख आदिक के परिणमन में कर्म तो निमित्त है, मगर बाकी जितने भी पदार्थ है जो आंखों देखे गए हैं—सुने गए है ये सब पदार्थ आश्रयभूत है। तो लोग क्या करते हैं कि आश्रयभूत पदार्थ को निमित्त कह कर यह दिखा देते हैं कि देखो—निमित्त तो जुटा, पर काम तो नहीं हुआ, इसलिए निमित्त पाकर नहीं हुआ। पर वह निमित्त है ही नहीं। निमित्त तो कर्मों का उदय है। बाह्य पदार्थ जो आश्रय से है ये हमारे बंध के कारण नहीं है, हमारे परिणमन के कारण नहीं हैं, ऐसा जानकर अभिमान को छोड़ो कि मैंने ऐसा किया तो ऐसा हुआ।

अध्यवसान में अहंकाररस का पोषण—भैया ! जीव में अनादि से मिथ्याबुद्धि के कारण अहंकाररस लगा हुआ हैं—मैंने यह किया। और धर्मकार्य करके भी अहंकार का पोषण करते। बिरले ही ज्ञानी संत हैं जो गुप्त रहकर धर्म का पालन करते हैं। मगर देखो ना, कितने भी दान होते हैं, अथवा व्रत ग्रहण करते हैं तो ये जीव ज्ञान बिना अहंकार के कारण और अपनी पर्याय के नाम के कारण करते हैं। तो यह अहंकार टूटे इसके लिए यह जानो कि हमारे परिणाम से बाह्यपदार्थों में कुछ परिवर्तन नहीं होता। मेरे सोचने के कारण किसी जीव का कुछ हो जाये ऐसा सम्बन्ध नहीं है। तो यह अध्यवसान इसी कारण मिथ्या है कि परपदार्थों में जैसा सोचो वैसा होता नहीं है।

सोचन और, बनत कुछ और हि—हम विचार कुछ और करते हैं, किन्तु पदार्थों में परिणमन कुछ और होता है। मनुष्य सोचते हैं हम धन कमाकर रख लें ताकि बुढ़ापे में फिर कोई फिकर न रहे, ब्याज से ही काम चल जायेगा और कदाचित् वह धन लुट गया तो क्या होगा? तो उस बेचारे ने तो जिन्दगीभर कमाया और थोड़ी ही देर में सारा धन खत्म हो गया। सोचते हैं मनुष्य कि यह बच्चा मुझे बुढ़ापे में आराम देगा और जब बच्चा बड़ा होता है, तो वह अपने कषाय को संभालेगा कि दूसरे जीवों के कषायों को संभालेगा सो सोचते कुछ है और होता कुछ है। तो परपदार्थों के बारे में सोचना अनर्थ ही हो गया। बाह्यपदार्थों में वह काम हो या न हो, तुमने तो अपने परिणाम से अपना भविष्य बना लिया।

अनुभूत परख—अभी गृहस्थी में रहते हुए ४०, ५०, ६० वर्ष हो गए आप लोगों को। किसी न किसी जीव में राग, मोह, विकल्प, अनवरत प्रतिसमय चल रहे हैं। वहाँ न करते विकल्प का काम तो वहाँ कुछ परिणमन रुकता था क्या ? और विकल्प किया तो वहाँ कुछ परिणमन कर दिया क्या ? मेल हो गया हमारे विकल्पों का और परपदार्थों के परिणमन का। पर कदाचित् मेल हो गया तो उसका अर्थ तो यह नहीं है कि मेरे सोचने से ऐसा हो गया। कोई भला काम बन गया तो अहंकार करते हैं कि देखो मैंने किया तो यह हुआ और बुरा हो जाये तो कहते कि मैंने तो अच्छे के लिए सोचा था पर होनहार यही था इसलिए यही हुआ। तो इस जीव को तो चाहिए अपने विकल्पों का पूरण। जहाँ इसके विकल्पों का पूरण बने वहाँ ही यह रमता है।

**आशय मलिनता**—यह जगत इस निष्फल अध्यवसान से मलिन है। यह अध्यवसान परिणाम निष्फल है। निष्फल मायने हैं कि इस जीव ने जो सोचा सो न हो। हो ही नहीं सकता। अपने को बड़ा मानने वाले पुरुष इसी कारण कुछ होते हैं। वे भ्रम करते हैं कि मेरा विश्व पर अधिकार है और होता नहीं है। परपदार्थों के सोचने से और दुःखी होते हैं। मेरा ही तो बालक है, ऐसे क्यों नहीं चलता मेरा ही तो मित्र है ऐसे क्यों यह विपरीत सोचता है मान लिया कि मेरा परपदार्थों पर मेरा अधिकार है और इस मान्यता के बश होकर जब देखते हैं कि वहाँ ऐसा कार्य नहीं हुआ तो दुःखी होते हैं।

**अध्यवसान में मान्यतायें**—देखो भैया ! इस अध्यवसान के द्वारा इस जीव ने अपने को क्या-क्या नहीं बना डाला। घर गृहस्थी में ही तो मानते हैं कि मैं घर वाला हूँ और कोई व्रत ग्रहण किया तो मानते हैं कि मैं व्रती हूँ, त्याग किया तो मानते हैं कि मैं त्यागी हूँ, साधु बन गए तो मानते हैं कि साधु हूँ। अध्यवसान देखते जावो। शुरू से अंत तक अध्यवसान चलते जा रहे हैं पर ऐसा कभी नहीं सोचा कि न मैं गृहस्थी हूँ, न साधु हूँ, न त्यागी हूँ, न मैं परिवार वाला हूँ। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप सत् पदार्थ हूँ। हालांकि कहना होगा, चलना होगा, खाना होगा, ठीक है, किन्तु ज्ञान है, वैराग्य है तो वही चलना, खाना संयम पूर्वक करना पड़ेगा। बातें सब होंगी, मगर श्रद्धा में तो यह बात बसी हो कि मैं वही हूँ जैसा कि बड़े-बड़े योगी अपने को चैतन्यस्वरूप मानते हैं। ऐसा ही गृहस्थ को भी अपने को मानना चाहिए।

भैया ! ऐसा नहीं है कि साधुजन तो अपने को चैतन्यस्वरूप मानें और गृहस्थजन अपने को परिवार वाला समझें, दुकान वाला समझें और इसकी भी मुक्ति हो जाये। मुक्ति का और संतोष का तो उपाय एक ही है। चाहे साधु हो चाहे गृहस्थ हो दोनों का मुक्ति का एक ही उपाय है। जिनसे बनता है सो वे करते हैं। मुनिपद में और श्रावकपद में केवल अन्तर प्रगति का है, श्रद्धा में अन्तर नहीं है। गृहस्थ और साधु दोनों के मुक्तिमार्ग के निर्णय में भी अन्तर नहीं है। मार्ग पर चलने में अन्तर है। साधु के भी यह निर्णय है कि इस शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि जितनी दृढ़ हो सके उतना कल्याण होगा। वही मुक्ति का उपाय है। तो गृहस्थों के भी यह निर्णय है, पर गृहस्थों के पास जितना समागम है उसके अनुसार अपने आत्मा पर वात्सल्य करते हैं और साधुजन अपने समागम के अनुसार अपने आत्मा से वात्सल्य करते हैं।

**प्रगतिभेद होने पर भी श्रद्धा की समानता**—जैसे जंगल में गायें चरने जाती हैं और शाम को अपने घर वापस आती है तो उछलती कूदती हुई वापस आती है। अपने बछड़े के वात्सल्य के कारण अपनी पूछ उठाकर दौड़ती हुई आती है। तो जिस गाय के जैसी पूछ है वह उस प्रकार हिलाती हुई आती है। जिस गाय की पूछ कटी है वह अपनी उतनी ही पूछ हिलाती हुई आती है। तो यहाँ तो परिस्थिति का भेद हो गया पर श्रद्धा और निर्णय साधु का और श्रावक का एक है। अब बतलावो घर में रह रहे हैं, चार आदमियों के बीच में रह रहे हैं कमाये बिना गुजारा नहीं चलता है। कमाना पड़ता है। जब कमाने की बात उनके साथ है तो उन्हें और प्रकार के विकल्पों में भी लगना पड़ता है। कुछ न कुछ उन विकल्पों को हटाना भी आवश्यक समझ रहे हैं, इसी से तो मंदिर में आते ध्यान लगाते, स्वाध्याय करते। तो गृहस्थी के पद में गृहस्थी की जैसी बात है, पर उन गृहस्थी के भी ज्ञान में यह निर्णय बना हुआ है कि मुक्ति का उपाय है तो

वह शुद्धचैतन्यस्वरूप का आलम्बन ही है ।

अध्यवसान में नानात्मकता—इस जीव ने अध्यवसान के वशीभूत होकर अपने को न जानें क्या-क्या नहीं बना डाला । ऐसा कुछ भी नहीं है जिस रूप यह आत्मा अध्यवसान से अपने को न बनाता हो । मनुष्य-मनुष्य तो सब एक किस्म के हैं । पर मनुष्यों के भावों में अपने आपके निर्णय के सम्बन्ध में जुदा-जुदा ख्याल है । कोई सोचता है कि मैं गरीब हूँ, कोई सोचता है कि मैं धनी हूँ । और कपड़े के अन्दर जो शरीर है वह तो एकसा है । किसी ने चिकने चापड़े कपड़े पहिन लिए तो वह अपने को मानता है कि मैं धनी हूँ और किसी ने रद्दी सद्दी ही कपड़े पहिन लिए तो वह मानता है कि मैं गरीब हूँ । सोचने से ही तो यह काम बन गया । परिस्थिति के कारण धनी नहीं, गरीब नहीं, पर बाहरी विकल्प ही बनाकर अपने को धनी अथवा गरीब बना लिया ।

**शान्ति का उद्यम**—अच्छा बतलावो कि धनी होकर क्या करना है ? शांति प्राप्त करना है। और तो उस धन का त्याग करके ही क्यों नहीं शांति प्राप्त करते हो तो इस जीव ने अपने आपमें अनेक विकल्प करके न जाने किस-किस रूप बना डाला है ? यह इन विकल्पों से हटता नहीं है, विकल्प किए जा रहा है । तो इस प्रकरण में यह शिक्षा दी जा रही है कि भाई विकल्पों से कुछ विश्राम तो करो । विकल्प-विकल्प में ही रहकर आज तक कुछ न पाया और न कुछ पाया जा सकता है, केवल एक अपना पराश्रित परिणमन बनाते चले जा रहे हैं । और जैसे-जैसे विकल्प होते जाते हैं वैसे-वैसे ही बंधन बढ़ता चला जाता है । इन विकल्पों का काम केवल अशांति उत्पन्न करना है । शांति का तो उपाय जैसा शुद्ध सहज केवल अपने आपका यह आत्मा जिस स्वरूप को लिए हुए है उस स्वरूप के दर्शन करना, उसके उन्मुख होना है ।

**ज्ञातृत्व के यत्र से ही लाभ**—पुराण में कितनी जगह चर्चाएँ हैं, इन बातों को बताने की कि सोचे कुछ और होता कुछ और । अपने जीवन में ही रोज-रोज देख लो । तो जब हमारे विकल्पों के अनुसार बाह्य में परिणमन हो ही नहीं सकता ऐसा निर्णय है तो फिर हमें उसका ख्याल ही न रहे, ऐसा यत्र करें । जो होता हो, हो । उसके हम ज्ञातामात्र रहे । हमारा तो काम जानने भर का है । जो केवल ज्ञाता रहता है वह आकुलित नहीं होता है और जो किसी बीच में पड़ता है उसको आकुलता होती ही है । जैसे कोई कमेटी हो और उसके तुम केवल दर्शक हो तो तुम देखते सिर्फ जा रहे हो, कोई आकुलता तुम्हें नहीं रहती है उस कमेटी के सदस्य हो गए तो कुछ न कुछ आकुलित हो जावेगी । और कहीं उस कमेटी के अधिकारी बना दिए गए तो समझो आकुलता और बढ़ जायेगी । तो जैसे-जैसे अध्यवसान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे इस जीव के साथ आकुलता बढ़ती जाती है । इस कारण इस बात पर ऋषिजन जोर देते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपने आपके स्वभाव को अविनाशी जान । केवल ज्ञानस्वरूप जानकर बाह्य प्रयत्नों से उपेक्षा कर । इनमें राग मत कर । इनमें ममत्व बुद्धि न कर ।

**कर्मक्षय का उपाय**—भैया ! ये विकार निमित्त पाकर होते हैं, ये अपने स्वभाव की चीजें नहीं हैं । ऐसा यह ज्ञानीपुरुष अपने आपको देखता है और शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप सामान्य प्रतिभासमय अपने आपके स्वरूप को निरखते हुए कर्मों का क्षय करता है । कर्मों का हम क्षय करें ऐसी बुद्धि से एक भी कर्म न हटेगा, पर

कर्म जिस कारण से बंधे है उन कारणों को दूर कर दें तो वे कर्म अपने आप समाप्त हो जायेंगे । कर्म आते हैं विकल्पों से । हम विकल्प तोड़कर निर्विकल्प आत्मस्वभाव का आश्रय करें तो कर्म अपने आप झटका जायेंगे । निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीव के कारण कर्मों का कुछ होने के लिए नहीं है या कर्मों के कारण जीव का कुछ होने के लिए नहीं है, अतः ऐसा ही मान लो यही उपेक्षा का उपाय है ।

**स्वपरिणाम से ही बन्ध मोक्ष की व्यवस्था**—यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि जीव कर्मों से बँधता है तो अपने ममत्व रागादिक अध्यवसान परिणामों के निमित्त को पाकर बँधता है और छूटता है कर्मों से तो अपने मोक्षमार्ग में स्थित होकर छूटता है । मोक्षमार्ग है शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान होना और उसही का ज्ञान होना व उसही का आचरण होना । ऐसे निश्चयरब्लत्रय रूप मोक्षमार्ग में स्थित होकर वह स्वयं की परिणति से छूटता है । जब ऐसा नियम है कि वह बँधता और छूटता अपने परिणामों से ही है तो हे बहिरात्मन् ! बतलावों तूने उसमें क्या किया ? तुम्हारा यह अध्यवसान ठीक नहीं है । जितने भी जीव दुःखी होते हैं वे अपने परिणमन से दुःखी होते हैं, तुम्हारे किए से दुःखी नहीं होते हैं । अंतरंग निमित्त उनका कर्मों का उदय है, तुम तो उनके निमित्त भी नहीं होते, केवल आश्रयभूत होते । सो अब वे जीव अपने ही पाप के उदय से दुःखी होते हैं तो तुमने इनमें क्या किया ? तुम उनका क्या कर सकते हो यदि उनके पाप कर्मों का उदय न हो तो ।

**पाप और पुण्य का उदय**—पाप उसे कहते हैं जो अशुभ परिणाम है और पाप का उदय उसे कहते हैं जो अपना इष्ट हो और वह न मिले या वह बिछुड़ जाये, इसको कहते हैं पाप का उदय । या जो अपने को अनिष्ट हो अर्थात् किसी इष्ट पदार्थ का बाधक हो उसका संयोग हो जाये तो उसे कहते हैं पाप का उदय । किसी मनुष्य को कोई बहुत तेज पेट की पीड़ा हो गयी और दिल का भी बहुत आक्रमण हो रहा है और उससे कोई आकर कहे कि आज तुम्हारे एक लाख रुपये की आय हुई है तो वह इतनी बात को सुनकर सुखी होगा क्या वह तो यह चाहेगा कि चाहे १० लाख और चले जायें पर मेरे दिल का और पेट दर्द का आराम होना चाहिए । उस समय यदि कोई अनुकूल औषधि मिल जाये तो उसके पुण्य का उदय कहा जायेगा ।

**इष्टानिष्ट लाभालाभ से ही पुण्यपापोदय की प्रसिद्धि**—संसार में बहुत से पदार्थ पड़े हुए है, उनके पड़े रहने से पुण्य पाप का निर्णय तो नहीं होता किन्तु अपने आपका जो इष्ट है उसकी प्राप्ति हो तो पुण्य का उदय कहलाता है और अलाभ हो या वियोग हो तो पाप का उदय है । जिसे आप अनिष्ट समझते हैं उससे यदि आपको कुछ प्राप्ति हो जाये तो उसे आप पाप का उदय कहेंगे या पुण्य का उदय कहेंगे उसे पुण्य का उदय कहेंगे । जो चीज जिसको है वह यदि मिल जाये तो यह पुण्य का उदय है । तो पुण्य का उदय तब कहलाता है जब कोई पुण्य की चीज मिले और पाप का उदय तब कहलाता है जब कोई इष्ट की चीज न मिले । अब इसी धारणा के अनुसार सब जगह घटा लो ।

**इष्टानिष्ट भाव का उदाहरण**—बड़े-बड़े लीडर लोग जेल में गए गांधीजी बगैरह तो क्या हमें यह सोचना चाहिए कि उनके पाप का उदय था सो वे जेल में गए । जो भी बात अनिष्ट हो और वह मिले तो समझो कि

पाप का उदय है। तब उनसे पूछते हैं कि माफी मांग लो तो तुम्हें जेल से मुक्त कर दें। ए क्लास देते हैं, नौकर देते हैं, मनमाना भोजन करो, बाहरसे मंगाकर खा लो, जहाँ सारी सुविधाएँ हैं तथा उनसे पूछा जाता कि माफी मांग लो तो तुम्हें जेल से मुक्त कर दें, फिर भी नहीं मांगते। तो हम कैसे मानें कि अनिष्ट चीज मिलने रूप उनके पाप का उदय है। इसलिए पुण्य के उदय की व्याख्या यह है कि इष्ट चीज मिले तो उसे पुण्य मानेंगे और इष्ट चीज न मिले तो उसे पाप मानेंगे।

**कर्तृत्वबुद्धि बन्धन की नियमितता**—यह जीव अपने आपके पाप के उदय से ही दुःखी होता है, इसे दूसरा कोई दुःख दे नहीं सकता है। तो हे बहिरात्मन्! तू अपने परिणाम से यह निकाल दे कि मैं दूसरे को दुःखी करता हूँ। जब तू दूसरे को पुण्य पाप दे नहीं सकता तो हे बहिरात्मन्! अपने अध्यवसान को निकाल दे कि मैं दूसरे को दुःखी सुखी करने वाला हूँ। जहाँ कर्तृत्व बुद्धि होती है वहाँ पर बंध ही चला करता है।

**तीर्थकरप्रकृतिबन्ध का हेतु**—तीर्थकरों के तीर्थकर प्रकृति का बंध कर्तृत्वबुद्धि से नहीं हुआ किन्तु करुणा बुद्धि से हुआ। उन्होंने पूर्वभव में इस प्रकार का ज्ञान किया था कि देखो ये संसारी जीव हैं तो सुख के निधान, पर अपने आपके स्वरूप की दृष्टि न करके दुःखी हो रहे हैं। इनकी श्रद्धा पलटे और अपने आपके परमात्मतत्त्व को निरखें तो ये सुखी होंगे। इस प्रकार की भावना की थी। यह भावना न की थी कि मैं सब जीवों को मोक्ष पहुंचाऊंगा, इस प्रकार के कर्तृत्व का अध्यवसान न किया था। परपदार्थों के कर्तृत्व का अध्यवसान अज्ञान बुद्धि है मिथ्यात्व बुद्धि है। तीर्थकर के करुणाबुद्धि जगी थी। जरा सी बात है। जो दृष्टि बाहर में फेंकी जा रही है वह अपने अन्तर में करने की बात है। इन जीवों की दृष्टि अपने आपकी ओर हो जाये, इनके समस्त दुःख दूर हो जाये ऐसी भावना की थी, तो उस भावना के परिणाम में और अन्य सब बातें अनुकूल होने पर उनके तीर्थकरप्रकृति का बंध हुआ था और जब तेरहवें गुणस्थान में तीर्थकर प्रकृति का उदय आया तो स्वयं ही सारे कर्म खिर गए।

**परपरिणति में अन्य के काय व वचन की चेष्टा की व्यर्थता**—हे बहिरात्मन्! तुम्हारी यह बुद्धि मिथ्या है जो इन जीवों को मन से, वचन से काय से और अन्य साधनों से दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ। उनका स्वयं उदय है उनके अनुकूल ये सब क्रियाकलाप मिलते हैं। इस प्रकार जब जीव के सुख दुःख अपने कर्मोदय से होते हैं तो देखो ना, मैंने शरीर से ऐसी चेष्टा की कि उन्हें दुःखी कर दिया ऐसी बुद्धि क्यों करते हो? प्रथम तो उनका जो दुःख परिणमन है वह उनके अज्ञान भाव के कारण है उपादानदृष्टि से और निमित्तदृष्टि से उनके कर्मों का जो उदय चल रहा है उस निमित्त से उनका वह परिणमन है। पर अन्य सब बाह्य पदार्थ तो उनके कर्मोदय के नोकर्म बनने चाहिए। इसे निमित्त नहीं कहा। तो वचनों से भी सोचना कि देखो मैंने खूब डांटा, अक्ल ठिकाने लगा दिया, मैंने उसको खूब दण्ड दिया, दुःखी किया, ऐसा अहंकार क्यों करते हो? उसका निमित्त तो पाप का उदय है। क्यों व्यर्थ में अपध्यान करके अपना बंधन बांध रहे हो?

**परपरिणति में अन्य के मन व इतर साधनों की चेष्टा की व्यर्थता**—जब यह जीव स्वयं की करतूत से दुःखी होता है तो फिर यह सोचना मिथ्या है जैसा कि लोग सोचते हैं कि मैं इसको दुःखी करता हूँ मेरे मन में आयेगा तो फिर इसका गुजारा नहीं चल सकता है। मैं चाहूंगा तब उसका दुःख मिटा सकता हूँ। मैं जब

चाहूंगा तब इसे सुख मिल सकेगा । ऐसा अपने मन में दूसरे के दुःखी सुखी करने का भाव लाना वह भी मिथ्या है । मैं धन संचय कर अथवा लाठी आदि शब्दों से या अन्य शब्दों से मैं दूसरे जीव को दुःखी कर सकता हूँ, ऐसा भाव करना यह भी मिथ्यापरिणाम है । तो जब समस्त जीव सुखी दुःखी तुम्हारे परिणाम से नहीं होते तब फिर यह अपध्यान भी तुम्हें छोड़ना चाहिए । पर के विषय में कुछ भी चिंतन करना यह अपनी दृष्टि से हटा देने वाली बात है ।

**स्वभावाश्रय की आवश्यकता—सो भैया !** उचित बात तो यह है कि किसी भी पर का ध्यान न हो, मगर यह उपादान इस योग्य नहीं है कि आज सबका ध्यान मिटा दे । तो उपदेश यह देते हैं कि अपनी भलाई के लिए ऐसा ध्यान बनावो कि जिसमें कुमार्ग की बात न आए । इस प्रकार खूब निर्णय कर लो कि हमारा परिणाम परपदार्थों में काम करने वाला नहीं है, अर्थक्रिया करने वाला नहीं है किन्तु जो शुद्ध ज्योति स्वभाव परम चैतन्यमात्र है, स्वयं के स्वरूप के अन्य उपरागों से रहित है उस रूप अपनी श्रद्धा नहीं कर रहे हो, तुम उसी रूप से अपने आपको नहीं भा रहे हो तो शुभ और अशुभ परिणाम करके केवल पुण्य का ही बंध करते हो । मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय से मिलता है । निज शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान हो, शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान हो, और शुद्ध आत्मतत्त्व का आचरण हो तो इस रीति से मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है ।

**मन को शिवकारी कार्यों में लगाना—भैया !** पर के विषय में कुछ करने के परिणाम में मुक्ति का मार्ग नहीं प्राप्त होता है । तो फिर पर के बारे में सोचना सब निष्फल है ना, सोचते कुछ है होता कुछ है । रात दिन अपने लिए प्रगति के प्रोग्राम बनाते रहते हैं । मन खाली नहीं बैठता । इस मन को निरन्तर अच्छे कामों में लगाने की आवश्यकता है । पूजा करें, स्वाध्याय करें, ध्यान करें, सत्संगति में रहें, अच्छे पुरुषों के समीप बैठें, ये सब काम करने की जरूरत है, नहीं तो इस कमज़ोर हालत में दृष्टि संग मिल जाये, विषय साधन का प्रकरण मिल जाये तो यह अपनी शुद्ध दृष्टि से च्युत होकर कुमार्ग में लग सकता है ।

**भाई !** इस निष्फल अध्यवसान से मलिन होकर ही यह सारा संसार अपने को नानारूप अनुभवता है । क्या-क्या रिश्ता इस जीव ने नहीं माना मैं पिता हूँ, साला हूँ, बहनोई हूँ, अमुक हूँ, कितनी प्रकार से यह अपने आपमें श्रद्धान कर रहा है और यह नहीं समझता कि मैं तो सर्व जीवों के समान एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा अपने आपको न जाना । यह जीव अपने को कैसा समझता है इस विषय में दो गाथाओं को कहेंगे । जिसमें प्रथम यह बता रहे हैं कि कर्म-विपाकोदयों में अपने को यह कैसा-कैसा प्रतीत करता है ।

## गाथा २६८

सबे करेह जीवो अज्ज्ववसाणेण तिरियोरइये ।

**देवमणुये य सबे पुण्यं पावं च णेयविहं ॥२६८॥**

**अध्यवसान से अपना विचित्र निर्माण—यह जीव अपने विकल्प परिणामों से तिर्यञ्च, नारकी, देव, मनुष्य, पुण्य, पाप नानारूप अपने को मानता है ।** इसमें बहुत सूक्ष्म दृष्टि से यह सोचना है कि इन जीवों ने अपने परिणामों से अपने को तिर्यञ्च बनाया, अपने ही परिणामों से अपने को मनुष्य बनाया । इसको दो

दृष्टियों से सोचो । प्रथम तो स्थूल दृष्टि से ऐसा है कि इस जीव ने उस प्रकार का परिणाम किया जिस प्रकार के परिणामों के निमित्त से तिर्यज्ज्व या मनुष्य आयु का बंध हुआ और उदय में तिर्यज्ज्व और मनुष्य बन गए ।

मनुष्यत्व के अध्यवसान से ही मनुष्यत्व—सूक्ष्मदृष्टि से अब सोचिए कि मनुष्य भी है यह जीव और साधु अवस्था हो गयी । बहुत उच्च ज्ञान की अवस्था हो गयी । वह सम्यक् ज्ञान से निरन्तर अपने को शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनुभव करता है । अपने को अमूर्तिक ज्ञानानंद स्वभावमात्र निरखता है तो वह मनुष्य अब नहीं है । मनुष्य होते हुए भी मनुष्य नहीं है । बाहर में लोगों को दिखता है कि यह मनुष्य है, और परिणमन पद्धति से भी वह मनुष्य व्यञ्जनपर्याय है, इतने पर भी यदि वह अपने अनुभव में अपने उपयोग में एक शुद्ध ज्ञायकमात्र का अनुभव कर रहा है तो उसके अनुभव में वह मनुष्य नहीं है किन्तु वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है । इसने इस उपयोगात्मक चैतन्य पदार्थ अपने को मनुष्य बनाया तो अध्यवसान परिणाम से बनाया, मनुष्य होते हुए भी मनुष्यरूप संस्कार न रहे, अनुभव न रहे, ऐसा विशिष्ट भेदविज्ञान जगे, ऐसा अनुपम, उच्च ज्ञान बन रहा हो कि वह अपने को अमूर्त चैतन्य प्रकाशमात्र अनुभव कर रहा हो तब वह मनुष्य नहीं है । हम अपने उपयोगरूप परिणमते हैं, अन्य चैतन्यपदार्थ अपने उपयोगरूप परिणमते हैं, तो इस जीव ने अपने अध्यवसान से ही अपने को नाना रूप बनाया ।

वैज्ञानिक पद्धति व आध्यात्मिक पद्धति से निर्माण—यह बात दो पद्धतियों में कही जा रही है । एक तो स्थूल पद्धति या वैज्ञानिक पद्धति और एक सूक्ष्म पद्धति । जो वैज्ञानिक पद्धति है उसमें द्रव्य-द्रव्य के सम्बन्ध से निमित्तनैमित्तिक भाव से जो बात हो रही है एक उस निगाह की बात है । अब इस निगाह से देखो कि यह जीव ज्ञानस्वरूप है, और रूप नहीं है, बाहरी किसी पदार्थ के सम्बन्ध से इस जीव का भला होते भी नहीं दिखता । जीव का जो असाधारण स्वभाव है उस स्वभावमात्र से जीव-जीव को देखो और यह क्या कर रहा है और यह जीव इस समय क्या है ऐसा निर्णय करो जो जीव अपने उपयोग में, अपने अनुभव में ज्ञान ज्योतिमात्र आत्मस्वरूप को ही देख रहा, अनुभव कर रहा है वह आत्मा तो आत्मा है, मनुष्य नहीं है । अन्य कोई संज्ञी जीव नहीं है, पर ऐसा कभी होता है । बिरले महात्माओं को ही यह बात होती है ।

अध्यवसान के अनुभव—साधारणतया तो सभी जीव निरन्तर अपने आपके किसी न किसी विषय में किसी न किसी अवस्था रूप मानते चले जा रहे हैं । तिर्यज्ज्व है, बैल है, घोड़ा है, ये अपने को उसही रूप से बराबर मानते हैं जैसे कि यह मनुष्य प्रायः रात दिन यह बात अपने उपयोग में बैठाये हैं कि मैं इन्सान हूँ । अरे यह जीव इन्सान है कहां? यह जीव तो चैतन्यस्वरूपमात्र है, भीतरी उपयोग की दृष्टि में बात की जा रही है । यह तो ज्ञानमात्र एक चैतन्यपदार्थ है । यदि यह इन्सान हो तो निरन्तर इसे इन्सान बने रहना चाहिए । मिट क्यों जाता है ? ये पशु कहां है ? यदि ये जीव पशु होते तो निरन्तर पशु ही बने रहते । यह जीव के असाधारण ज्ञानस्वभाव की ओर से बात कही जा रही है ।

अपनी प्रतीति की पद्धति के अनुसार अनुभवन—भैया ! जिसके अनुभव में चैतन्यात्मक निज तत्त्व ही है उसके लिए तो यह आत्मा है । न देव है, न मनुष्य है, न तिर्यज्ज्व है, न नारकी है और विज्ञान पद्धति से

बताया जाये तो हां है तो मनुष्य, है तो तिर्यच किन्तु कोई ज्ञानी पुरुष अपने आपमें जो अनुभव कर रहा हो उसी का तो आनन्द लेगा । जो अपने को 'मैं मात्र चैतन्यस्वरूप हूँ' ऐसा अनुभव में ले रहा उसको सहजआनन्द का अनुभव होगा । जो अपने को मैं अमुक हूँ, पिता हूँ, रक्षक हूँ, इस प्रकार का अनुभव में ले रहा है उसको आकुलता का अनुभव होगा । अपने आपको जिस प्रकार का मान लेता है उस प्रकार का उसे अपना अनुभव होता है । अपने उपयोग में जैसा जीव ने अपने को माना उसके लिए तो यह है । बाहर में क्या स्थिति आ गयी है, यह तो विज्ञान पद्धति की बात है । निमित्तनैमित्तिक कर्मवश जीवों का बंधन होता है, पर अन्तर में जैसा अपने को मानता उस रूप से ही स्वाद लेता है ।

**स्वरस्स्वाद की प्रेरणा**—यह जीव अपने को चेतन द्रव्यरूप से अनुभवता है तो अनाकुलता का स्वाद लेता है । बाहरी वस्तुओं में हम चाहे शुभ रूप से पर्याय में एकता रखें या अशुभरूप से पर्याय में एकता रखें, पर परिणमन में जो भी रखकर विचार होता है वह विचार किसी न किसी क्षोभ को उत्पन्न करता हुआ होता है । यहाँ भेदविज्ञान में यही तो बताया गया है कि तू सबसे भिन्न केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अपने को जान । सबसे भिन्न मैं क्या ये समस्त जड़ वैभव पुदगल उनसे भिन्न सर्व से न्यारा, कुटुम्ब आदिक से न्यारा, कर्मों से न्यारा और अपने आपमें जो उत्पन्न होते हैं उन विभाव रागद्वेषादिक से न्यारा और विभावों की जो परिणतिरूप क्रिया है उससे न्यारा ऐसा शुद्ध ध्रुव अहेतुक चैतन्यस्वभावमात्र अपने को निरखो, जो होना है होगा, पर तू तो अन्तर में एक चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपको निरख ।

**अध्यवसान से हिंसकत्व**—यह जीव अज्ञानतावश अपने को हिंसक बना लेता है । यदि बेहोशी में या सोती हुई हालत में हाथ उठ गया और वह जीव मर गया तो ऐसी अवस्था में उसे व्यवहार में किसने हत्यारा कहा है या साधुपुरुष अपनी सावधानी सहित समितिपूर्वक गमन कर रहे हैं और कोई कुन्त्यु जीव उनके पैरों के नीचे आकर मर गया है तो उन साधुओं को किसने हिंसक कहा है ? जो जीव हिंसा के परिणाम करे—मैं इसको यों कर दूँ ऐसा हिंसा का अध्यवसान करे उससे जीव न भी मरे तब भी वह हिंसक है । क्योंकि उसको हिंसा के कार्य में एकता आ गयी है कि मैं यों करने वाला हूँ ।

**अज्ञान में उलझने**—ममत्व में अहंत्व में अज्ञान में इस जीव को अपने सुलझने का मार्ग नहीं सूझता । फिर उसे कैसे आनन्द प्राप्त हो सकता है आनन्द प्राप्त करने का उपाय इस जीव के अज्ञान में नहीं है । वे तो जानते हैं कि धन संचय कर लें, इतना कार्य कर लें, इतना परिग्रह बढ़ा लें तो अपने को शांति हो जायेगी, वे तो यह सोचते हैं । तो जो क्रिया भरे हिंसामय अध्यवसान से अपने को मलिन करता है तो वह अपने आपका ही हिंसक बन गया । कोई दूसरा जीव किसी दूसरे जीव को हिंसक बना सकता है क्या ? नहीं । वह ही अपना बुरा परिणाम करे तो अपने आपका हिंसक है । तो जैसे उस जीव ने अपने आपके परिणाम से अपने को हिंसक बनाया और अपने आपके दया भरे परिणाम से अपने को दयालु बनाया, इसी तरह समझना चाहिए कि जो विपाक में आई हुई नारक आदिक पर्यायें हैं उनमें अध्यवसान साथ-साथ चल रहा है ।

**मनुष्य होकर भी अध्यात्मदृष्टि में प्रभुता की अनुभूति**—मनुष्य हैं हम आप ठीक है, खुब देख लो । शरीर

मनुष्य का है। मनुष्य जैसा ढाल चाल है, खान पान मनुष्य जैसा है। मनुष्य होकर भी यदि आप किसी क्षण अपने शरीर को ही भूल जाएँ, इसका भी ध्यान न रहे, और एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही अनुभव में आए तो आपके लिए आपकी ओर से क्या आप मनुष्य है? नहीं है। आपके उपयोग की ओर से आपके लिए उस क्षण में आप मनुष्य नहीं किन्तु जिस रूप में आपका अनुभव रहता है उस रूप हैं आप—चैतन्यस्वरूप मात्र।

आत्मत्व के अनुभव का पुरुषार्थ—देखो भैया! रात दिन को आप अपने को मनुष्य ही मनुष्य तो समझते चले जा रहे हैं। किसी क्षण तो आप अपने चित् प्रकाशमात्र आत्मतत्त्व का अनुभव तो करें। चाहे आप दुकान में हों, घर में हों, मंदिर में हों, किसी भी जगह हों, अपने चित्स्वरूप में आपका चित्त निर्भर हो आय, ऐसा ध्यान हो आय कि मैं मनुष्य नहीं हूँ। बड़े-बड़े योगी पुरुष और कौनसी साधना करते हैं? यही साधना करते हैं। कहां मैं मनुष्य हूँ, पिता हूँ, अमुक हूँ, अध्यवसान नहीं ठहर सकते हैं। इसलिए ज्ञान शुद्ध करके अपने अन्तर में ऐसा ध्यान जगाना है कि जिससे हम यह भूल जायें कि मैं मनुष्य हूँ, और यह उपयोग में रहे कि मैं जाज्वल्यमान चैतन्य चित् प्रकाशमात्र एक शुद्ध स्वरूप हूँ, ऐसा क्षण कभी मिले तो वह क्षण धन्य है। तब वह न गृहस्थ है, न योगी है, वह अपना आत्मस्वरूप मात्र है।

अध्यवसानों से अपना विचित्र स्थान—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि जीव अपने अध्यवसान से अपने को नानारूप बनाता है। इस प्रकरण में सूक्ष्म दृष्टि से विवेचना चल रही है। इसने मनुष्य का देह धारण किया इसलिए यह मनुष्य है, ऐसा नहीं कह रहे हैं, किन्तु इस जीव के उपयोग में मनुष्यत्व का विकल्प है इसलिए यह मनुष्य है। यह सब दृष्टियों का अलग-अलग वैभव है। जैसे हिंसक किसे कहते हैं? जो हाथ पैर पीटे या कोई परिश्रम करे उसे हिंसक नहीं कहते, किन्तु मैं मारता हूँ आदिक क्रियाओं से गर्भित हिंसा का परिणाम जिसका बना हो उसे हिंसक कहते हैं। तो जैसे अध्यवसान परिणाम के द्वारा यह जीव अपने को हिंसक बनाता है, क्रिया गर्भित असत्य आदिक अध्यवसानों के द्वारा अपने को झूठा आदि बनाता है इसी तरह यह जीव अपने को कर्मविपाक में आए हुए अध्यवसानों के कारण नारक बनाता है।

अध्यवसान का निश्चय से सर्जन—यहाँ धातु अध्यात्मदृष्टि से यह चल रही है कि इस मनुष्य शरीर में होने से यह मनुष्य है, ऐसी बात नहीं है किन्तु मनुष्यपने का इसमें निरन्तर अध्यवसान बना रहता है कि यह अपने को मनुष्य मानता है अतः मनुष्य है। यद्यपि यह भी बात सही है कि मनुष्य का शरीर मिला इसलिए मनुष्य है पर यहाँ निगाह की इतनी पैनी दृष्टि बर्ती जा रही है कि भीतर केवल आत्मा को ही देख रहे हैं। शरीर पर दृष्टि नहीं डाल रहे हैं। निश्चय से ऐसा होता है कि केवल हम एक पदार्थ पर ही निगाह रखते हैं, तो जब हम जैसा भी यह अपने गुण में परिणत है, आत्मा पर दृष्टि दें और समझना चाहे कि यह मनुष्य है। नारकी है, क्या है, तो वहाँ उत्तर यह मिलेगा कि यह जीव जिस प्रकार का अपना अध्यवसान बना रहा हो वह जीव वह है। अध्यवसान का अर्थ है परिणाम कर रहे हैं।

अन्तर्दृष्टि के अनुरूप अनुभव—मनुष्य की देह में रहकर कोई जीव पशु का अध्यवसान नहीं कर सकता है ऐसी ही स्थिति है और मनुष्य के शरीर में रहकर यह जीव मनुष्यत्व का अपनायत करे और मनुष्यत्व का

अपनायत न भी करे, ये दोनों बातें हो सकती हैं। पर मनुष्य होकर पशु का परिणाम करे यह बात नहीं हो सकती है। तो भी मनुष्य है कोई और आत्मा के अनुभव में जुटा है तो उसको तो मनुष्य का विकल्प ही नहीं है कि मैं मनुष्य हूँ। वह ज्ञानी योगी पुरुष अनुभव में मनुष्यत्व का विकल्प नहीं करता है इस लिए वह मनुष्य नहीं है, वह तो आत्मा है। इस जीव के अन्तर में जैसे आशयरूप दृष्टि होती है उस जीव को उस रूप कहा जाता है और केवल मनुष्य की ही बात नहीं, नारकी जीव है वे अशुभ विक्रिया के शरीर में रहते हैं, रहो। वैज्ञानिक पद्धति से और व्यवहार दृष्टि से यह उत्तर है कि यह अशुभ देह में रहता है, यह नारकी है और अध्यात्मदृष्टि से आत्मा की ओर से यह उत्तर है कि मैं नारकी हूँ, इस प्रकार की प्रतीति में बने रहते हैं इसलिए नारकी है। इनकी दृष्टियों के दो उत्तर हैं।

**बाह्यदृष्टि** में **विपच्यमान** का अनुभव—पशु पर्याय में रहते हुए पशु अपने आपमें पशुता की प्रतीति बनाए रहते हैं। जिस रूप की प्रतीति बनाए उस रूप यह जीव अपने को करता है। तो यह जो अध्यवसान है जैसा कि पहिले यह वर्णन चल रहा था कि मैं दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, यह अध्यवसान निष्फल है, क्योंकि मैं दूसरे को दुखी करने का आशय बनाता हूँ और दूसरा दुःखी नहीं होता। दूसरे को सुखी करने का आशय बनाता हूँ तो दूसरा सुखी नहीं होता तो हम निष्फल हो गए ना। जो उस विकल्प का विषय बनाया था बाहर में सो उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। इसलिए यह भी अध्यवसान है कि इन परिणामों के कारण यह जीव अपने को नाना रूप बना रहा है। विपाक में आया नरक भव। नरकगति उसे कहते हैं कि जिसके उदय से इस जीव के नरकगति के योग्य भाव हुआ। होता है। नारकी जीव है, किन्तु वह या तो अपने को नारकी रूप में मानेगा या चैतन्यप्रकाश के रूप में मानेगा, वह मनुष्य के रूप में मान ले ऐसा नहीं हो सकता है।

**इच्छानुभव न होकर विपाकानुभव**—नारकी जीव मनुष्य होना चाहते हैं, देव होना चाहते हैं इस कारण वे मनुष्य रूप अपने को मान सकें ऐसा नहीं हो सकता। वे तो जैसा उदय चल रहा द्वै, जैसा विपाक हो रहा है वैसा मानेंगे। हां यह हो सकता है कि किसी क्षण अपने में नारकी का अनुभव न हो। नारकी होते हुए भी स्वानुभव के अनुकूल अपने आपको अनुभव कर रहे हैं, वे अपने को शुद्ध चैतन्यस्वरूप मान रहे हैं। अनुभव कर रहे हैं, मैं नारकी हूँ ऐसा विकल्प नहीं रहता है। सम्यग्दृष्टि जितने भी नारकी हों या तिर्यञ्च हों या मनुष्य हों या देव हों, जो अपने में आत्मानुभव कर रहे हों तो उस स्वरूप में यह प्रतीति नहीं रखते कि मैं मनुष्य हूँ, मैं नारकी हूँ। वहां तो एक चिदानन्दघन आत्मतत्त्व की ही प्रतीति है और अनुभूति है। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि अध्यवसान के द्वारा यह जीव अपने आपको नानारूप बना रहा है।

**कल्याण का उपाय**—भैया ! कल्याण का उपाय तो आत्मस्वरूप की दृष्टि है, और विज्ञान में ये सब बातें सिद्ध हैं कि अमुक निमित्त को पाकर अमुक जगह यह काम बना। यह बात है, उसका तो विरोध नहीं करना है, किन्तु उस सम्बन्ध को अपने उपयोग में, दिमाग में बसाये रहना, यह कल्याण की बात नहीं है। जान लिया है, निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध है, पर जीव अपनी दृष्टि से चिंगकर और उस निमित्तभूत पर की घोषणा में समर्थपना दृढ़ करते रहने के यत्र में और उसकी ही बात करते रहने में चित्त लगाये यह समय का सदुपयोग

नहीं है। समय का सदुपयोग यह है कि अपना जो सहज स्वरूप है, शुद्ध विपाक है उसके जानने की कोशिश होना, उसही में अपने को संतोष कर रत रहना, यही है समय का सदुपयोग। क्योंकि अंत में शरण इस आत्मा का आत्मा ही है।

**निमित्त जानने का प्रयोजन**—निमित्त जानने का प्रयोजन तो इतना भर है कि मुझे विकारों में प्रेम न जगे। विकार मैं हूँ, रागद्वेष मैं हूँ, ऐसा भ्रम न रहे, उस भ्रम को मेटने के लिए यह बताया जाता है जैसा कि यथार्थ है कि ये रागद्वेष विकार कर्मोदय का निमित्त पाकर होते हैं, तेरी चीज नहीं है। इनमें आसक्त मत हो। ऐसा समझाने के लिए निमित्त का वर्णन है न कि निमित्त की दृष्टि बनाना, निमित्त का पोषण करना, निमित्त की चर्चा करने से किसी को संतोष हुआ हो तो बतलावो। जिसको संतोष होगा उसको अपने आत्मा की उन्मुखता में संतोष होगा। निमित्त की उन्मुखता में शांति न होगी।

**किसी एक पक्ष के ग्रहण की अश्रेयस्करता**—भैया! कल्याण की एक जो सामान्य स्थिति थी वह आज कल के आन्दोलन के पहिले विशुद्ध थी। कैसी विशुद्ध थी एक धारारूप से चलती थी। हर एक मनुष्य पढ़ा लिखा विद्वान् समझदार था। गृहस्थ भी इतने समझदार थे कि कर्मोदय का निमित्त पाकर ये पर्यायें होती हैं इनमें संदेह न करते थे और सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र जो आत्मा है उसकी दृष्टि रखना ही शरण है यह पढ़ते थे। पर आज ऐसी तनातनी की स्थिति हो गयी कि निश्चय की बात कहना भी मंजूर नहीं। जो व्यवहार के पोषण में अपना उपयोग लेते हैं और निश्चय के एकांत में अपना उपयोग लगाते वे निमित्त की रंच भी बात पुष्ट हो ऐसी बात नहीं कहते। बिगाड़ मेरी ख्याल से दोनों जगह हुआ जो एक व्यावहारिक बिगाड़ है। वह कल्याणार्थी उत्तम है, गृहस्थ हो या विद्वान् हो जो खुले रूप में किसी पक्ष में शामिल नहीं होना चाहता, क्योंकि पक्ष में शामिल होने का अर्थ वह है कि अपनी-अपनी रटे जावो और धुन बनाए जावो। उसका फिर अर्थ यही होगा। ऐसी कठिन स्थिति हो जायेगी कि प्रतिपक्ष की उपेक्षा हो जावेगी।

**गतियोग्य भाव के अनुभव से गतिविशिष्टता**—यहाँ यह बतला रहे हैं कि कर्मों का उदय विपाक में आता है, नरक आदिक रूप अध्यवसाय परिणाम होता है। उसके कारण इस आत्मा में अपने को नारकी बनाया। करणानुयोग की दृष्टि से देखो तो नरक गति का उदय नरक की भूमि में पहुंचने से पहिले ही हो गया। अगर यह जीव यहाँ से मरकर नरक में पैदा हो तो मरने के बाद ही नरक गति का उदय आ गया। पर यह बतला रहे हैं कि नरक गति के उदय में नरक जैसा भाव होता है शरीर नहीं मिला भाव उसका अब से हो गया। उसका अन्तर चाहे एक या दो समय ही सही और वहाँ उत्पन्न होने के बाद अपने में बस मैं नारकी हूँ ऐसा न भी सोचे तो भी नारकी को जिस प्रकार का विचार बनना चाहिए उस प्रकार के विचार में रहे। जिस समय जान रहे हैं उस समय तो ज्ञात है और न भी ज्ञात हो पर भोग तो रहा है।

**पर्याय में अहंकार**—भैया! चाहे नहीं कोई जानता हो कि मैं नारकी हूँ, पर भोग तो रहा है नारक का परिणमन। मिथ्यादृष्टि के जीव होंगे वे अपने को मैं हूँ, मैं हूँ, ऐसा तो जानते हैं पर मैं नारकी हूँ ऐसा न जानते होंगे। कितने ही जीव ऐसे हैं। जैसे इस मध्य लोक में और दूसरे जीवन हों तो अपने को मनुष्य कौन कहे अरे पशु पक्षी थे सब जीव दिखते हैं तभी तो अपने को मनुष्य कहते हैं। तब तो मनुष्य का

व्यवहार है। वहाँ तो नारकी ही नारकी है, दूसरे जीव दिखते ही नहीं न पशु है, न पक्षी है, न मनुष्य है। तो जब दूसरे जीव नहीं दिखते हैं तो कितनों को तो यह भी पता नहीं कि मैं नारकी हूँ। उन्हें तो यह पता है कि मैं इनमें यह हूँ। जो भी शरीर मिला, जो भी पिण्ड मिला, मैं यह हूँ। मैं यह हूँ ऐसा उस पर्याय का अहंकार रहता है।

**नारकी जीवों की प्रवर्तमान परिस्थिति**—वे नारकी जीव मनुष्य की तरह अंग वाले हैं, हाथ पैर आंख, जीभ, नाक, कान ये हैं तो, पर विरूप है। लम्बे कान, लम्बी नाक, बड़ी-बड़ी, और फिर उनमें विक्रिया है। उस विक्रिया बल से किसी चीज को सताने के लिए सिंह बन जायें। शरीर वही है पर विक्रिया से हो जाते हैं। किसी के शस्त्र मारना है तो यों ही हाथ उठाया और वह हाथ ही शस्त्र बन गया। उन्हें शस्त्र तलाशना नहीं पड़ता है। विक्रिया से खुद का हाथ ही शस्त्र हो गया। तो उन जीवों में जो सम्यग्दृष्टि नारकी है और किसी समय स्वानुभव में हों तो वे अपने बारे में पता रखेंगे कि मैं ऐसा शुद्ध प्रतिभासमात्र चैतन्य तत्त्व हूँ, किन्तु यह अनुभव कुछ क्षण चलता है। बाद में तो सब ख्याल हो ही जाता है कि मैं अमुक हूँ। इतना अन्तर रहता है कि सम्यग्दृष्टि के अंतरंग में, प्रतीति में तो यह रहता है कि मेरा स्वरूप नारकी नहीं है, मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द है पर आखिर उस पर्याय को कहां फैक दे। सो उसको भी जानते हैं। जैसी यहाँ मनुष्य की बात है वैसी ही वहाँ उनकी बात है।

यह जीव कर्मविपाक में आए हुए तिर्यञ्चगति के परिणाम से अपने को तिर्यञ्च मानता है। मनुष्य हुआ तो मनुष्य जैसी लीलाएँ की, पशु हुआ तो पशु जैसी लीलाएँ की, तिर्यञ्च हुआ तो तिर्यञ्च की जैसी लीलाएँ कीं। क्या कोई पशु किसी मनुष्य के सुन्दर रूप पर आकर्षित होता है वह तो पशुओं पर ही आकर्षित होता है। तो यह जीव जिस भव में जाता है उस भव के योग्य इस जीव के अध्यवसान है। तो यह जीव अपने अध्यवसान परिणामों के द्वारा अपने को नारकी बनाता है, तिर्यञ्च बनाता है। मनुष्य गति का विपाक हो उससे उत्पन्न हुआ जो अहंभाव है—मैं मनुष्य हूँ या मनुष्यरूप से जितनी भी चेष्टाएँ है उनसे उसने अपने को मनुष्य बनाया। इसी प्रकार विपाक में आया हुआ जो देव भव है उस देवभव के अध्यवसान के द्वारा वह अपने को देव बनाता है। ये तो हुई चार बंधपर्याय सम्बन्धी बातें और उदाहरण में दी गई हैं हिंसकादिक भाव की बातें।

**अध्यवसान के द्वारा परिस्थिति का निर्माण**—अब जैसा कि गाथा में लिखा है सो बतलाते हैं पुण्य पाप की बातें। यह जीव अपने को पुण्य रूप बनाता है। विपाक में आए हुए सुख आदिक पुण्य के अध्यवसान द्वारा अपने को मुख्यरूप बनाता है विपाक में आए हुए पाप के अध्यवसान के द्वारा अपने को पापरूप बनाता है। अब देखते जावो जीव हिंसक क्यों है कि उसके हिंसा का अध्यवसान हुआ। यह तो पूरा अध्यवसान दृष्टि से उत्तर है। सभी लोग मानते हैं कि यह जीव पुण्यरूप क्यों है कि उसके पुण्य का परिणाम बना रहता है और यह जीव पापी क्यों है कि उसके पाप का परिणाम बन रहा है और यह मनुष्य क्यों है उसी सिलसिले से उसका भी उदाहरण यही है कि उसका मनुष्य भव के योग्य परिणाम चल रहा है इसलिए मनुष्य है। यह भीतर की अंतरंग दृष्टि से उत्तर है। व्यवहार में तो यों कहा जायेगा कि यह मनुष्य देह है इसलिए मनुष्य है

। पर अन्तर्दृष्टि से यह उत्तर मिलेगा कि चूँकि वह मनुष्यपने की धुनि में रहता है, मनुष्यपने का भाव रखता है इसलिए वह मनुष्य है ।

इस प्रकार यह जीव नाना पर्यायों के अध्यवसान के द्वारा अपने को नाना पर्यायोंरूप बनाता रहता है । इस जगह अभी पर्यायरूपता के अध्यवसान की बात कही गयी है । अब ज्ञायमान जो पदार्थ हैं, जो चेतन है उन पदार्थों में अध्यवसान करके भी अपने को यह नानारूप मानता है, इस बात का वर्णन करते हैं ।

## गाथा २६९

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।

सबे करेङ्ग जीवो अज्ज्ञवसाक्षेण अप्पाणं ॥२६९॥

**ज्ञायमान का अध्यवसाय—**यह जीव अध्यवसान के ही द्वारा अपने को धर्मरूप अर्धमर्मरूप, जीवरूप, अजीवरूप, लोकरूप, अलोकरूप सब प्रकार अपने को बना डालता है । यहाँ किसी विपच्चमान् तत्त्व में तो उदय से सम्बन्ध है और ज्ञायमान् तत्त्व में जानने से सम्बन्ध है । जैसे कोई मनुष्य केला बेच रहा है तो हम जब उसे बुलाते हैं तो ये केला, ये केला कह कर पुकारते हैं । उस केले वाले में और केले में एकत्व भाव करके हम बुलाते हैं । इसी प्रकार हम जिस पदार्थ को जान रहे हैं, जिस पदार्थविषयक विकल्प बना रहे हैं—अपने विकल्प से और विकल्प में आए हुए विषय में एकत्व करके हम यह कह देते हैं कि यह जीव अध्यवसान के ही द्वारा अपने को धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्योंरूप अपने को बनाता है ।

**ज्ञायमान के अध्यवसाय बिना बात पर विवाद असंभव—**इस सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि यह जरा कम समझ में आता है कि धर्मद्रव्य का हम स्वरूप जान रहे हैं तो हमने अपने आपमें धर्मद्रव्य कैसे बना लिया ? जान रहे हैं । अगर धर्मद्रव्य की चर्चा करने चले और उस चर्चा में हमारे बताए हुए विचार के विरुद्ध कोई दूसरा विचार रखे तो हमें क्षोभ क्यों आ जाता है क्षोभ इसलिए आ जाता है कि जानने में आ रहे धर्मद्रव्य के सम्बन्ध में हमने ऐसा एकत्व विकल्प कर लिया कि अब उस विषय के सम्बन्ध में कोई दूसरा यदि विरुद्ध बोलता है तो हम उससे विवाद करेंगे । जैसे हम किसी मंदिर में कोई तस्वीर देख आएँ और आप भी थोड़ा-थोड़ा देख आएँ और हम उन सबका वर्णन करने लगें और आप टोक दें कि वहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ ऐसी तस्वीर है, वहाँ यह है, हमारी बात को आपने काटी इसलिए क्षोभ में आ गए । यह क्षोभ सावित करता है हम जो कुछ जान रहे हैं उस पदार्थ में और अपने में एकत्व करने के इस अध्यवसाय को नहीं तो ऐसा कह देते कि भैया ऐसा न सही, ऐसा ही होगा ।

**अध्यवसान की असमीचीनता—**सो भैया ! एकत्व का जो अध्यवसाय होता है उस अध्यवसाय से यह जीव अपने आपके आत्मा को धर्मद्रव्यरूप, अर्धमर्मद्रव्यरूप, परजीवरूप, अजीवरूप, लोकरूप, अलोकरूप, नानारूप बनाता है । जैसे हम शास्त्र बोल रहे हैं, इसी बीच में आपका चित्त मानों बाम्बे के किसी दृश्य में पहुंच गया और आपको हमने ताड़ लिया कि इनका परिणाम शास्त्र सुनने में नहीं है तो पूछते हैं कि भाई तुम इस समय कहाँ हो ? सुनने वाले तो यह समझेंगे कि यह क्या पूछ रहे हैं, मंदिर में ही तो बैठे । पर

वहाँ यह पूछा कि भाई आपका उपयोग किस विषयक है ? तो जिस पदार्थ में उपयोग है उस पदार्थ में वह एकरस होकर जानता है यहीं तो मिथ्या अध्यवसान है ।

**आत्मा की ज्ञायमानपररूपता**—यह जीव ज्ञेय पदार्थ के अध्यवसान परिणाम के द्वारा अपने को नाना ज्ञेयरूप मनाता है, जैसे घटाकार परिणत जो ज्ञान है वह घट कहलाता है इसी प्रकार धर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में जो कुछ समझ रहा है उस ज्ञेयाकार में परिणत जो केवल है वह धर्मद्रव्य कहलाता है । ऐसा जो परिच्छेदरूप विकल्प है उस रूप अपने को बनाना उस काल में जब कि अज्ञानमय अध्यवसाय चल रहा है उस समय चिदानन्दस्वरूप हूँ, केवल ज्ञानमात्र हूँ, तो ऐसा उसकी दृष्टि में न रहा, सो वह भी उपचार से पररूप बन गया ।

**विपच्यमान का अध्यवसाय और ज्ञायमान का अध्यवसाय**—यह जीव उदय में आया जो विपाक, उसके फल में अपने को जैसा हिंसक, झूठ, चोर, कुशील, परिग्रही बनाता है और नारकी, तिर्यञ्च मनुष्य देव बनाता है तथा अपने को नाना पुण्यरूप, पापरूप बनाता रहता है, इसी प्रकार यह जीव जानने में आए हुए पदार्थों में एकरस होकर, परिच्छेद विकल्प में दृष्टि लगाकर अपने चित् प्रकाशमात्र स्वभाव की दृष्टि से च्युत होकर नाना ज्ञेय पदार्थरूप अपने को बनाता है, तो जैसे विपाक में अपने को नानारूप बनाया, विपाक में आया हुआ जो परिणाम है उन परिणामों के अपनाने से मायामयरूप बनाया, इसी प्रकार ज्ञान में आए हुए जो पदार्थ है उन पदार्थों के अपनाने से इसने अपने को नाना रूप बनाया, दूसरे जीवों को जाना तो दूसरे जीव रूप बनाया, अधर्मद्रव्य जाना तो अधर्म द्रव्य बनाया । केवलज्ञान में परिच्छेद के विकल्प के अध्यवसाय के अभाव से ऐसा नहीं बन पाता । पुद्गलद्रव्य को जाना तो उसका अध्यवसाय करके पुद्गलरूप बनाया । लोकाकाश को जाना तो अध्यवसाय करके अपने को लोकाकाशमय बनाया । अपने को अलोकाकाशरूप बनाया।

**उलझन और सुलझन की दिशा**—मैया ! इस तरह यह जीव ज्ञायमान पदार्थों में भी अध्यवसान करता है । अपने को नानारूप बनाता है, यह प्रक्रिया हो रही है इस संसार अवस्था में । सो यहाँ विपत्ति है, पर की उलझन है । इसकी निवृत्ति हो सकती है तो इन सबसे विभक्त चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपकी दृष्टि का अभ्यास होने से ही हो सकती है । ये सारे विकल्प, संकट एकत्वविभक्त आत्मतत्त्व के आश्रय से दूर हो सकते हैं ।

**विश्व से विभक्त होने पर भी विश्वरूप बनने का कारण अध्यवसान**—वह आत्मा समस्त अन्य परपदार्थों से जुदा है । सारे विश्व से अपना न्यारा सत्त्व रखता है अर्थात् विश्व में सभी पदार्थ आ गए, उसमें यह आत्मा भी आया, पर यह आत्मा अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य जितने आत्मा है और जितने परपदार्थ हैं उन सबसे विविक्त हैं । अपने ही स्वरूप चतुष्टय से अस्तित्व सम्पन्न है, फिर भी अध्यवसाय का ऐसा प्रभाव है कि यह आत्मा अपने को विश्वरूप बना लेता है अर्थात् नानारूप बना लेता है । अपने नारक होने के परिणाम से नारकी बनता है । तिर्यञ्च भाव के योग्य परिणामों में अध्यवसान करके तिर्यञ्च बनता है, देव योग्य भावों को करके अपने को देव बनाता है और मनुष्य के योग्य अपने में परिणाम करके अपने को मनुष्य बनाता है । तो

यह एक आत्मा अपने रागद्वेष मोह परिणाम के कारण नानारूप बनाता चला जा रहा है ।

**भिन्न सृष्टिकर्ता का अभाव—भैया !** जगत् में कोई अलग से सृष्टिकर्ता ऐसा नहीं है जो कि जीव की सृष्टि किया करता हो । क्योंकि सृष्टि का कोई प्रयोजन ही नहीं है । क्या खेल करने के लिए किसी ने सृष्टि रचा है या जीवों को सुखी या दुःखी करने के लिए सृष्टि रचा है । क्या प्रयोजन था सृष्टि रचने का ? कौनसी ऐसी अङ्गचन आ गयी जो सृष्टि करना पड़ा ? क्या किसी ने इसलिए यह लीला खेली कि जिससे जीवों को तकलीफ हो ? कैसी ही दुर्गति में हो, कोई विवेकी पुरुष ऐसी लीलाएँ करना पसंद नहीं करता । और फिर दार्शनिक दृष्टि से देखा जाये तो किस उपादान से इस जीव को बनाया गया या बिना ही कुछ हुए एकदम ही बना दिया ? ऐसा तो जगत् में नहीं देखा जाता कि कुछ भी न हो और चीज का निर्माण किया जाये । कुछ तो उपादान चाहिए निर्माण करने के लिए । तो इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि सृष्टिकर्ता मेरा मेरे से अलग कोई नहीं है ।

अध्यवसान और उसका निमित्त—हां, निमित्तरूप में सृष्टि का कारण है कर्मों का उदय । कर्मों के उदय का निमित्तमात्र पाकर यह आत्मा अपने अध्यवसान परिणाम से अपने को ज्ञानरूप बनाया करता है । है तो यह सबसे न्यारा, फिर भी जिसके प्रभाव में यह आत्मा अपने को नाना पर्यायोरूप बनाता है वह विपाक है मोहक अर्थात् जितने भी विकल्प है, अध्यवसान है, मैं अमुक हूँ ऐसी प्रतीति हो यह मेरा है ऐसी प्रतीति हो, ये जितनी भी अध्यवसानरूप प्रतीति है? उसका कारण है मोह भाव । अध्यवसान उसको कहते हैं जो आत्मा में अपने आप बात नहीं है उसको भी अपने निश्चय में करना इसे ही कहते हैं अध्यवसान । स्वरूप बाह्य अधिक निश्चय करने को अध्यवसान कहते हैं । जो अपने स्वभाव में नहीं है ऐसी बात का अपने में निर्णय रखना यही अध्यवसान है । जैसे बाह्यपदार्थ मेरे नहीं हैं पर यह निर्णय रहे कि ये मेरे हैं तो, यही अध्यवसान हुआ ।

अज्ञानी का सर्वज्ञ से भी अधिक दौड़ का कुप्रयास—देखो भैया ! सर्वज्ञदेव भी जिस बात का निश्चय न करें उस बात का निश्चय यह संसारी सुभट कर रहा है । सर्वज्ञ यह नहीं जानता कि यह मकान अमुक लाला जी का है । यदि वह सर्वज्ञदेव यह जान जाये कि यह मकान अमुकलाल जी का है तो इससे बढ़कर और रजिस्ट्री क्या हो सकती है ? पर सर्वज्ञदेव यह नहीं जानता कि यह मकान अमुक लालाजी का है, इसलिए उस सर्वज्ञदेव के अध्यवसान नहीं रहता है । वह सर्वज्ञदेव किसी भी परपदार्थ को किसी के स्वामित्व को योग करता हुआ नहीं जानता है । यह मकान मेरा है, इस प्रकार का जिसके विकल्परूप परिणाम न हो वह ज्ञानी है । यह तो लोकव्यवहार में कहा जाता है कि यह मकान मेरा है, अमुक चीज मेरी है, पर वास्तव में यह आपका नहीं है । जो अपना स्वभाव नहीं है उसका भी निश्चय बनाए इसे कहते हैं अध्यवसाय । मकान आपका है क्या ? आपका नहीं है । जब जो चीज आपकी नहीं है और विकल्प बना है कि यह चीज मेरी है यही तो अध्यवसान है ।

सर्वज्ञत्व का अर्थ सर्व सत् का ज्ञातृत्व—सर्वज्ञदेव यह नहीं जानते कि यह चीज इसकी है । यह भी नहीं जानते कि वह चीज अमुक की है । वे तो जो सत् है उसे ही जानते हैं, असत् को नहीं जानते हैं । जो

बात मौजूद है उसे तो जानते हैं किन्तु जिसका सत् नहीं है उसे नहीं जानते । यह मकान है । इसमें जो कुछ सत् लो उसका ज्ञान हो गया, किन्तु यह नहीं जानेंगे कि यह मकान इनका है । सर्वज्ञ का अर्थ है सत् पदार्थों को जानना । जैसे किसीने विकल्प कर लिया कि यह मकान मेरा है तो यहाँ भी ज्ञानी पुरुष जो समझते हैं वे यह न कहेंगे कि यह मकान इनका है । ये तो कहेंगे कि यह मकान न इनका है, न हमारा है । हाँ ज्ञान में झलक गया कि यह जो कुछ है, ऐसा परिणमन तो रहता है, पर यह मकान इनका है, इस प्रकार का अध्यवसान सर्वज्ञदेव के नहीं होता है । जो है सो जान लिया ।

**परवस्तु में आत्मीयता की मिथ्या कल्पना**—यह मकान मेरा है या इनका है, ऐसा तो यहाँ ज्ञानी पुरुष भी नहीं कहता । फिर सर्वज्ञदेव तो बड़ा स्पष्ट ज्ञान वाला है वह इसका कैसे समर्थन कर सकता है कि यह मकान इनका है । जब आप यह जानने लगेंगे कि यह मकान मेरा है, तो समझो कि अभी स्वच्छ ज्ञान नहीं है । अरे मकान तो परचीज है, उसे अपना मानना यही तो अध्यवसान है । लोकव्यवहार में तो ऐसा ही बोला करते हैं कि यह मकान मेरा है, पर सोचो तो सही कि यह मकान आपका है कैसे? जब यह देह तक भी अपना नहीं है, जब मरण होता है तो आत्मा तो यहाँ से चला जाता है और यह शरीर यहीं पड़ा रहता है । तो मकान को अपना मानना विपर्यय है ही ।

**पर का स्वामित्व सर्वथा असंभव**—यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि क्या वास्तव में मकान मेरा है ? क्या वास्तव में धन वैभव मेरा है ? यह जो आत्मा है उसकी संरक्षण में यह तो धर्म की प्रारम्भिक बात है । इतना तो ज्ञान में रहना चाहिए कि यह मकान मेरा नहीं है । मिथ्यात्व बुद्धि के कारण यह मान रहे हैं कि यह मकान मेरा है पर वस्तुतः यह मकान मेरा नहीं है । जो ज्ञानी संत पुरुष होते हैं वे भी यही कबूल करते हैं कि यह मकान मेरा नहीं है । इस मकान पर हमारा स्वामित्व नहीं है । ऐसा इन ग्रन्थों में प्रारम्भ में ही बताया गया है । किसी भी परवस्तु को अपना न मानो, परवस्तु अपनी नहीं है । परवस्तुओं के त्याग के लिए इन साधु संतों का उपदेश है ।

**मोह के त्याग में धर्म का मूलत्व**—देखिए इस पिण्ड में परवस्तु अब भी दो है । इनमें एक चैतन पदार्थ है और एक जड़ परमाणुओं का पिण्ड-रूप पदार्थ है । लक्षण भेद है । जिसमें लक्षणभेद है वह एक दूसरे के समान नहीं होता । अगर आत्मा का शरीर होता तो मरने पर शरीर उससे छूट क्यों जाता? ऐसा भेदविज्ञान की दृष्टि करना है, जिससे अपने को यह प्रतीति हो कि मैं खाली एक हूँ, अकेला हूँ, मेरे साथ दूसरा कोई नहीं है । यह ज्ञान होना चाहिए और यह ज्ञान होने पर ही आत्मा की धर्म में प्रगति चलती है । तो मोह ममता के त्याग का उपदेश इसीलिए दिया है कि वास्तव में हमारा यहाँ है क्या ? तो यहाँ यह बात कह रहे हैं कि यह मोह परिणाम समस्त जगभ्रमणाओं का मूल है और जिसके मोह का परिणाम नहीं है वह ही पुरुष यती है, ज्ञानी संत है ।

## गाथा २७०

एदावि णत्थि जेसिं अज्ज्ववसा णाणि एवमादीणि ।

### ते असुहेण सुहेणव कम्मेण मुणी ण लिष्पति ॥२७०॥

अध्यवसान—इससे पूर्व इस ग्रन्थ में अध्यवसान का वर्णन चल रहा था कि कैसे-कैसे जीव में अध्यवसान होता है मलिन परिणाम होता है। यह भी एक मलिनता है। अपने आप जैसा चैतन्यस्वरूपमात्र यह है ऐसा न सोचकर अपने आपमें यह बुद्धि बनाना है कि मैं मनुष्य हूँ, पिता हूँ, नारक हूँ, तिर्यज्ज्व हूँ, मैं घर वाला हूँ, मैं परिवार वाला हूँ, अमुक पोजीशन वाला हूँ, ये सब बातें सोचना अध्यवसान है। और यह मेरा है ऐसा भी सोचना अध्यवसान है और कहां तक बताया जाये? किसी पदार्थ को हम जान रहे हैं तो जिस पदार्थ को हम जान रहे हैं उस पदार्थ के जानने में हमारी ऐसी रागपूर्वक पुष्टि हो कि जिसमें हम विकल्प की स्वीकार कर लें, जिस स्वीकारता के कारण हमारी बात के कोई अगर विवाद करे या विरोध डाले तो उसमें भ्रम क्षोभ मान जावे तो इसका अर्थ यह है कि ज्ञेयमान पदार्थों में भी हमने एकत्र का अध्यवसान किया।

अध्यवसान के अभाव से कर्मलेप का अभाव—भैया! ये सब अध्यवसान रागपरिणाम में होते हैं। वे सबके सब राग परिणाम जिसके नहीं हैं वे मुनिजन अशुभकर्म अथवा शुभ कर्म दोनों में लिस नहीं होते हैं। व्यवहार परिणति में जीव को पहिले तो कुछ समझे बिना यह साधन, चलता है, जैसे हम आपको बचपन से ही मां मंदिर में ले जाती है, उस समय बच्चे को कुछ मोह नहीं है; मगर फिर भी वह अपनी व्यवहार स्थिति में लगता है, बचपन से ही वैसे संस्कार पड़ने लगते हैं। जब कुछ समझने लगता है फिर कुछ समझ करके वह व्यवहार का काम चलाता है। अभी थोड़ी समझ है, मर्मरूप समझ नहीं है और ज्ञान किया तो विशेष ज्ञान होने पर वह समझ पूर्वक व्यवहार करता है। फिर उसकी परिणति अब्रत परिणाम को छोड़ने की होती है। फिर वह व्रतों को अंगीकार करता है, फिर साधु होकर उच्च पद में स्थित होता है। जब अपने आत्मतत्त्व का अनुभव जगता है उस क्षण अपने सर्वप्रकार के विकल्पों का विराम लेकर निर्विकल्प ज्ञानभाव का या चित्प्रकाश का अनुभव करता है और ऐसी साधना करते हुए में कोई क्षण ऐसा भी आता है कि उसे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है।

उत्कृष्ट ध्यान का सामर्थ्य—अब आजकल तो ऐसा संहनन नहीं है कि ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति बन सके, पर यदि ऐसा उत्कृष्ट ध्यान हो जाये तो चार अघातिया कर्मों का विनाश हो जाता है और वह सर्वदर्शी हो जाता है, फिर भी भगवान केवली के जब तक अघातिया कर्म रहते हैं, शरीर साथ रहता है और बाकी ये कर्म नामकर्म गोत्रकर्म, वेदनीय कर्म और आयु कर्म ये चार अघातिया कर्म जब तक है, तब तक वे रहते हैं। इस लोक में उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, फिर योगनिरोध होता है। उनके चारों अघातियाकर्म एक साथ खिर जाते हैं। ऐसा नहीं है कि पहिले एक कर्म खिर जाये, फिर बाद में एक कर्म खिरे। उनके चारों अघातियाकर्म एक साथ खिर जाते हैं।

सर्वविकास का मूल मोह का परित्याग—सम्भव है कि अरहंत प्रभु के आयु कर्म तो थोड़ा रह गया है, और शेष ३ अघातिया कर्म अधिक स्थिति के हैं तो वहाँ सहज केवली समुद्घात हो जाता है। इसमें आत्मप्रदेश पहिले तो नीचे से ऊपर तक फैल जाता है, फिर अगल बगल फैल जाता है, फिर आगे पीछे

फैल जाता है, यहाँ तक कि केवल वातवलय शेष रहती है। जब वातवलय में भी फैल जाता है फिर उसे कहते हैं लोकपूरण समुद्घात। लोकपूरण समुद्घात की स्थिति में आत्मा में जितने भी प्रदेश है वे एक-एक प्रदेश पर समर्वगणा के हिसाब से फैल जाते हैं। अभी भी असंख्यातप्रदेशी है, जितने क्षेत्र में फैला है उतने में असंख्यात गुणे प्रदेश है। असंख्यात-असंख्यात तरह के होते हैं। हमारा आत्मा जितने प्रदेश में है, वह असंख्यात प्रदेश में ठहरा है। हमारे आत्मा के प्रदेश जितने प्रमाण हैं वे प्रमाण ज्यादा है तब तो समुद्घात का यह क्षेत्र ज्यादा दुर तक फैल जाता है। यह जो उनके विकास की प्रक्रिया बनती है उसमें सर्वप्रथम मोह का परित्याग हुआ है।

**अध्यवसान की अचेतनता—जिसके अध्यवसान नहीं रहता है वह शुभ तथा अशुभ कर्म परिणामों में लिप्त नहीं होता है।** ये तीन प्रकार के अध्यवसान हैं। मिथ्या ज्ञान, मिथ्या दर्शन और मिथ्याचारित्र अथवा अज्ञान, अदर्शन व अचारित्र ये ही बंध के कारण हैं। ऊपर तक भी जहाँ सम्यक्त्व होने पर भी कुछ समय तक अध्यवसान रहता है वहाँ पर अचारित्र है, स्थिरता नहीं है। अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र इन रूप जितने भी अध्यवसान हैं ये शुभ या अशुभ कर्मों के आश्रय से होते हैं क्योंकि ये अध्यवसान रागद्वेष मोहभाव, विकल्प, इच्छा ये सब अध्यवसान स्वरूप से चेतने वाले नहीं हैं, प्रतिभास करने वाले नहीं हैं, ये अचेतन हैं। चेतन तो ज्ञान और दर्शन है।

**ज्ञानातिरिक्त परिणामों की बन्धहेतुता—एक विश्लेषण से देखा जाये तो इनमें जो अनन्तगुण है वे उनको गर्भित करने वाले ज्ञानगुण और दर्शनगुण हैं। बाकी गुण तो इसके उपभोग में आते हैं।** जैसे एक सुख का परिणाम हो तो सुख का परिणाम स्वयं अपने आपके सम्यग्ज्ञान के द्वारा होता है। इस तरह जितने भी अन्य गुण हैं वे सब ज्ञान के द्वारा अनुभव में आते हैं। वे गुण स्वयं अपने ही अनुभव का प्रतिभास करने लगते हैं। ऐसा एक ज्ञान का काम है। तो ये सब अध्यवसान जितने हैं उनके स्वरूपसे अगर देखा जाये तो ये ज्ञानातिरिक्त हैं। ज्ञान का काम तो मात्र जानन है। राग करना ज्ञान का काम नहीं है। राग करने का जो परिणाम है वह जानन परिणाम से अतिरिक्त परिणाम है। तो जो भी ज्ञानभाव से अतिरिक्त परिणाम होंगे वे परिणाम शुभ अथवा अशुभ बंध के कारण होते हैं और जो केवल ज्ञान का परिणाम है। जाननमात्र परिणाम है वह जाननमात्र बंध का कारण नहीं होता।

जैसे बंध के हेतु जो बताये हैं मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग ये चारों कर्म आस्त्रबंध के कारणभूत हैं। मिथ्यात्व स्वयं चेतने वाला गुण नहीं है, अविरति स्वयं चेतने वाला गुण नहीं है, कषाय स्वयं चेतने वाला गुण नहीं है, योग स्वयं चेतने वाला परिणमन नहीं है। चेतने वाला परिणमन तो एक ज्ञानपरिणमन है। अध्यवसान स्वयं अध्यवसान रूप है, शुभ अथवा अशुभ बंध का कारण है। उसी का थोड़ा विवेचन कर रहे हैं। मैं इसे मारता हूँ इस प्रकार का जो परिणाम है वह परिणाम अध्यवसान है या जीव का स्वरूप है। यह जो विकल्प होता है कि मैं दूसरे प्राणी का घात करता हूँ। यह विकल्प अज्ञानरूप है, ज्ञानरूप नहीं है।

**सहज और असहज भाव—आत्मा की क्रिया तो ज्ञसिक्रिया है जो सद्भूत है और इसकी स्वयं की क्रिया है।** इसके अतिरिक्त अन्य क्रिया का परिणाम बंध का कारण। है। आत्मा अपने आपमें ऐसा विवेक कर

लेता है कि जितना ज्ञानप्रकाश है । जितना जानन परिणाम है वह तो है उसका स्वरूप है और जितने रागादिक भाव है वे हैं औपाधिक परिणमन । मेरे स्वभाव नहीं है, परिणमता तो मैं हूँ पर रागादिक मेरे परिणमन नहीं हैं । मेरा स्वभाव ज्ञान दर्शन मात्र है, ऐसा जो अपने आपमें ध्यान करता है कि मैं शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, शरीररूप नहीं हूँ, शरीर का बंधन है, शरीर का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, इतने पर भी मैं शरीर रूप नहीं हूँ । जरा शरीर की दृष्टि अपने उपयोग से ओझल करके केवल अपने आपमें जो अमूर्त शुद्ध एक प्रकाश प्रतिभास मात्र है उसकी ओर दृष्टि करो और देखो कि यह मैं प्रतिभास मात्र हूँ ।

**आत्मपरिचय की अपूर्व आवश्यकता**—आत्मपरिचय करने के अनन्तर किसी क्षण विकल्प हो जाये, संकल्प हो जाये, तो वह बंध जाता है, पर किसी क्षण अपने आपका सत्य प्रतिभास हो गया था, सो उस सत्य प्रतिभास की सामर्थ्य के बल से जीवन में आकुलता नहीं होती है । कुछ भी घटना आए, इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट संयोग हो जाये तो भी वहाँ यह ज्ञान रहता है कि मैं केवल शुद्ध अर्थात् सबसे न्यारा अपने स्वरूपमात्र हूँ—ऐसा जानकर इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग में वह विहृल नहीं होता । भेद विज्ञान करना और सबसे पृथक् आत्मस्वरूप का परिचय पाना यह बहुत आवश्यक कर्तव्य है ।

**सत—श्रद्धा का सामर्थ्य**—यद्यपि गृहस्थों की ऐसी दशा है कि परिग्रह रखे हैं, कुछ आरम्भ रखे हैं, परिजनों का संगम है, ऐसी स्थिति में कुछ उनकी विलक्षण दशा है । ऐसी स्थिति में कुछ न कुछ विकल्प रहता है । पर ऐसी स्थिति में रहने वाले श्रावक भी किसी क्षण जब चाहे स्वाध्याय, ध्यान पूजन आदि अवसरों में, अन्य अवसरों में जब कभी उनकी अपने आत्मा के सहजस्वभाव की ओर दृष्टि होती है तो वे भी उस आनन्द का पान कर लेते हैं जिस आनन्द को बहुत क्षण साधुजन पाते हैं । गृहस्थजनों के आरम्भ है, परिग्रह है, संसार है । उनके विकल्प जगता है, पर आखिर चैतन्यस्वरूप ही तो ये हैं संज्ञी है, अपने स्वरूप का परिज्ञान करना चाहें तो क्या कर नहीं सकते हैं ? कर सकते हैं । संज्ञी होने के कारण चैतन्यस्वभाव को जानकर इनकी रुचि उस ओर तीव्र होने पर कल्याणमार्ग मिलता है । परद्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्बद्ध भला है ।

**अध्यवसानों के अभाव में मुनियों की पवित्रता**—परद्रव्यों से न्यारा केवल इस आत्मतत्त्व में रुचि जगे—अहो वह तो भगवत् स्वरूप है, वह परमात्मा हो सकता है, ऐसा अपने आपके स्वभाव को पहिचान कर अपने आपमें रुचि जगना यही कल्याण का उपाय है । अपना उपाय यही होना चाहिए कि ब्रत करें, स्वाध्याय करें, संयम करें, यह तो हित की बात है । पूजन, सामायिक सबमें ऐसा परिणाम हो कि अपने आपमें लीन हो जायें, ऐसी अपने हित को भावना करें तो अपनी सफलता हो सकती है । और यदि केवल दूसरे को दिखाने के लिए या अपने की कुछ जताने के लिए इन बातों को किया जाये तो इससे कल्याण का मार्ग नहीं प्राप्त होता है । अपनी ही भलाई के लिए अपने शुद्ध परिणामों में आना है । शुद्ध परिणामों की उन्मुखता बढ़े और शुभ अशुभ परिणाम छूटे तो किसी क्षण निर्विकल्प समाधि का हम अनुभव कर सकते हैं । ऐसा जो मुनिजन करते हैं वे शुभ अथवा अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते ।

**क्रियाध्यवसान**—अध्यवसान ३ प्रकार के होते हैं—अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र । ये तीनों के तीनों

अज्ञानरूप है और शुभ अशुभ बंध के कारण है। उसका अब विवेचन करते हैं कि जैसे यह अध्यवसान परिणाम हो कि मैं मारता हूँ, तो यह अध्यवसान परिणाम ज्ञानमय आत्मा से भिन्न चौज है। आत्मा का स्वरूप तो ज्ञानमयता है और ऐसा अध्यवसान जिनके होता है उनका स्वरूप अज्ञानरूप है। यह आत्मतत्त्व तो एक सद्भूत और अहेतुक ज्ञसि क्रिया वाला है और मैं मारता हूँ, इस प्रकार का जो क्रिया का अध्यवसान है वह रागद्वेष का फलरूप है और इसी कारण वह अज्ञानरूप है। इस तरह इस अज्ञानी जीव ने अपने आपके स्वरूप में और क्रिया में भेद नहीं जाना। अपनी इस ज्ञसिक्रिया को छोड़कर जो अध्यवसानरूप क्रिया है उस बंधरूप क्रिया से अपने आपके स्वरूप को भिन्न नहीं पहिचाना और माना मैं करता हूँ।

**सहजक्रिया आर औपाधिकक्रिया में अन्तर—भैया !** यह मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, जिसका काम तो केवल ज्ञसि है, तो मेरी वास्तविक क्रियाज्ञसि है ऐसा तो नहीं पहिचाना और मेरी क्रिया मारने की है, मैं मारता हूँ इसको जाना। यह अध्यवसान भी यद्यपि आत्मा में होता है, पर यह तो विपच्चमान है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। सो यहाँ क्रिया में और अपने स्वरूप में अन्तर दिखाया जा रहा है। यहाँ हनन आदिक क्रियाओं और सद्भूत अहेतुक, ज्ञसि क्रियावान् आत्मतत्त्व में अन्तर है। आत्मा की सहज क्रिया जाननरूप है और मैं मारता हूँ आदिक अध्यवसानरूप क्रियाएँ औपाधिक भावकर्मों के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए परिणाम है। मैं सहज अपने स्वभाव के कारण केवलज्ञानमात्र हूँ। जिसकी सहज क्रियाज्ञसि है ऐसी ज्ञसि क्रियावोंरूप अपने आत्मतत्त्व में और रागद्वेष के फल स्वरूप हनन आदिक क्रियाओं में इस जीव ने विशेषता नहीं जानी।

**विवेक न होने का परिणाम—ये दोनों ही विशेषताएँ न जानने के कारण विविक्त जो यह आत्मतत्त्व है इसका ज्ञान नहीं होता।** तब यह अज्ञानरूप रहा। सो न तो विविक्त आत्मा का ज्ञान हुआ और न इस सबसे निराले इस आत्मतत्त्व को श्रद्धान हुआ और न इस निर्मलपने के रूप से केवल ज्ञसिक्रिया वाला रह सकना इस तरह का उद्योग भी नहीं हुआ, आचरण भी नहीं हुआ। तब इस जीव के अज्ञान होना मिथ्यादर्शन होना और अचारित्र होना प्राकृतिक ही बात है।

**तीनों अध्यवसानों से रहित मुनि—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानी संत पुरुषों के अध्यवसान नहीं होता है, सो वे शुभ अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते।** उन अध्यवसानों से अपने को पृथक् न देख सकने वाला यह अध्यवसान कहा गया है। दूसरा अध्यवसान है—जो पर्याय मिला है उस पर्यायस्वरूप अपने को मानना, यह भी अध्यवसान है। मैं नारक हूँ, तिर्यच्च हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ आदि ज्ञायमान विकल्पोंरूप अपने को मानना इस प्रकार के जो अध्यवसान है वे इस ज्ञानमय आत्मा से अपने को पृथक् नहीं समझने देते।

**अध्यवसानों का अन्धकार—उन अध्यवसानों को तीन भागों में विभक्त किया है।** एक तो औपाधिक क्रियाओं से अपने को भिन्न न मान सकना और दूसरे अपनी जो पर्याएँ हुई उन पर्यायों से अपने को पृथक् समझ सकना, कुछ समाधान सहित ध्यान में लाइए और तीसरी बात—जो जानने में आ रहा है, ऐसे पदार्थों से जिसके समय जो विकल्प हैं उस समय उन विकल्पों से अपने को जुदा न समझ सकना, ये तीन तरह के अंधेरे होते हैं। जिन अंधेरों में रहकर अपने आपके स्वरूप में स्थित जो कारणसमयसार है, परमात्मतत्त्व है, शुद्ध स्वरूप है वह विदित नहीं हो सकता। यह गाथा बहुत गम्भीर है और अत्यन्त मर्म में पहुंचाने वाली

है। मोक्षमार्ग जैसा शिवमय पाने के लिए हमें कितनी पैरी दृष्टि करके अपने सहज स्वरूप को निरखना है, यह इसमें बताया गया है।

**आत्मस्वभाव का परिचय**—जीव तो अपने आप सहज एक ज्ञानप्रकाश मात्र है और उस जीव का अपनी ओर से जो काम हो सकता है वह मात्र जानन का काम हो सकता है। फिर तो जो राग करता है और अनेक क्रियावों का परिणाम बनाता है, मैं चलता हूँ, उठता हूँ, बैठता है, मारता हूँ, सुखी करता हूँ ऐसो क्रियावों के विकल्प आत्मा में आत्मा के स्वभाव से नहीं उठते। अगर ये क्रियावों के विकल्प करने के भाव आत्मा के स्वभाव से उठते होते तो सिद्ध भगवान के भी होने चाहिए। जो चीज स्वाभाविक है वह सिद्ध प्रभु में मिलती है और जो चीज स्वाभाविक नहीं प्राकृतिक है, औपाधिक है वह संसारी जीवों में मिलेगी आज का प्रकरण बहुत मनोयोग से सुनियेगा, बड़ी सावधानी से भेदविज्ञान की दृष्टि से इसमें बताया गया है। हमें समझना है अपने आपके सहजस्वरूप को अर्थात् ये आत्मा स्वयं अपने आप किसी पर की उपाधि न हो तब किस प्रकार यह रह सकता है यह जानें।

**अध्यवसानों में स्वपर का एकत्व**—यद्यपि अभी देह के बंधन में है और आत्मा भी आकुल व्याकुल रहता है। फिर भी हम ज्ञान द्वारा जान तो सबको सकते हैं यथार्थ, आत्म पदार्थ अपने आपकी सत्ता के होने से किस स्वरूप वाला हुआ, यह बात यहाँ जानने की है। यह बात जिसने न जानी उनकी वर्तमान स्थिति क्या है कि वह तीनों प्रकार परिणामों में रहता है, एक तो रागद्वेषों के परिणाम रूप किया के एकत्व में। मैं कर्ता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं चलता हूँ आदि इस प्रकार क्रिया के एकत्व में दूसरे प्रकार का अध्यवसान है और परिस्थिति मिली है, पर्याय मिली है। पशु पक्षी आदि के पर्यायरूप में एकत्व को लिए हुए, अर्थात् मैं नारकी हूँ ऐसे संतोष को लिए हुए, यह है दूसरे किस्म का अध्यवसान और तीसरे प्रकार का अध्यवसान यह है कि हम जिन पदार्थों को जानते हैं उन पदार्थों के विषय में जो विकल्प हुआ है उसमें हम राग के कारण एकत्व लिए हैं। ये ३ प्रकार के अध्यवसान संसारी प्राणी के हैं जिसके कारण यह जीव अपने आपका अपनी सत्त्व के कारण जो सहज स्वरूप है उसका परिज्ञान नहीं करता।

**अध्यवसानों का विवरण**—अध्यवसान का अर्थ है जो आत्मा में स्वयं स्वभाव से नहीं है ऐसे जो नाना औपाधिक तत्त्व है उन तत्त्वों में अपने उपयोग का लगाव करना, यही है अध्यवसान अर्थात् रागद्वेष करने की क्रियाएँ, मिली हुई पर्याय में, इन सबमें मैं हूँ, मैं कर्ता हूँ, इस प्रकार के उपयोग का लगाव करना ये सब अध्यवसाय हैं और सीधी भाषा में यह कह लो कि जो काम सिद्ध प्रभु नहीं करते वे जितने भी काम यहाँ हो रहे हैं हम और आपके, वे हैं अध्यवसान। इन मोटे तीन प्रकार के अध्यवसानों से हटकर जब हम आत्मा के अनुभव की स्थिति में आते हैं तो उस स्थिति में भी जितने क्षण हमें भेदरूप से ध्यान रहता है, चाहे वह अपने बारे में ही होता हो। जब मदरूप से रहता है तब तक तो अध्यवसान है और जब भेदरूप ध्यान हटकर अपने ज्ञानस्वरूप को अभेदरूप से अनुभवे तब अध्यवसान नहीं रहता है। विचार, विकल्प, रागद्वेष ये सब अध्यवसान हैं।

ये अध्यवसान जिसके नहीं होते वे मुनिजन शुभ अथवा अशुभकर्मों से लिप्त नहीं होते हैं। तीनों प्रकार

के अध्यवसान त्यागना है। यह बहुत तीक्ष्ण दृष्टि से भेदविज्ञान यहाँ कहा जा रहा है। क्रिया में अध्यवसान, पर्याय में अध्यवसान और ज्ञायमान विकल्प में अध्यवसान। ये तीन तरह के अध्यवसान हैं। क्रिया में तो ज्ञानी पुरुष यह देख रहा है कि क्रिया तो जाननस्वरूप है, मैं सुखी करूँ, दुःखी करूँ, मारूँ, जिलाऊँ आदिक जितने क्रियारूप विकल्प है वे मेरी सहज क्रिया नहीं हैं। तो एक ज्ञासि क्रियावान आत्मतत्त्व के लिए ये सब क्रियाएँ रागद्वेष के परिणाम से होती हैं और इसी कारण ये क्रियाएँ अज्ञान स्वरूप हैं।

**प्रभु की तुलना से सहज क्रिया का परिचय**—अपने आत्मस्वरूप में और इन क्रियाओं में यह जीव एकत्व करता है, किन्तु यह कथन अशुद्धनिश्चय दृष्टि से है। यहाँ आत्मा के सहजस्वरूप को पहचानने का उद्यम किया जा रहा है, मेरी सहज क्रिया क्या है जो प्रभु की क्रिया है वही आत्मा की सहज क्रिया है। जो बात प्रभु में नहीं पायी जाती है वह हम कर रहे हैं यद्यपि, हम परिणति बना रहे हैं फिर भी हमारा वह सहज परिणमन नहीं हो सकता। हमारा स्वाभाविक परिणमन वह है जो निर्दोष निष्कलंक आत्मा का है। हम जो कुछ करते हैं क्या हम सब सही कर रहे हैं? करते हैं, पर गलत भी करते हैं और सही भी करते हैं।

**गलत और सही का अन्वेषण**—गलत और सही की व्याख्या कुछ पदवियों तक अपेक्षित चलती है जिस क्रिया को साधु गलत मान सकते हैं उसको गृहस्थ सही भी मान सकते हैं। और जिस क्रिया को प्रमत्त अवस्था में साधुपद सही मान सकता है वह क्रिया अप्रमत्त साधु की अपेक्षा गलत हो जाती है और ऊँची श्रेणियों में चलकर जहाँ अभेद परिणमन की दशा होती है। उनकी इस ज्ञासि क्रिया के आगे जो कुछ भी विचारार्थक कुछ भी हो वह सब गलत हो जाता है। तो कुछ पदवियों तक गलत और सही अपेक्षित चलती है, मगर ऐसी पूर्ण सही क्रिया क्या है जिसमें अपेक्षा नहीं रहती है ऐसी निरपेक्ष यथार्थ तो ज्ञायक की ज्ञासि क्रिया है उसके आगे यह नहीं रहता कि क्या यह किसी अपेक्षा से गलत हो सकता है?

**ज्ञानरस में मग्नता की उपादेयता**—भैया! क्रिया में अध्यवसान करना यह पहिला अध्यवसान है और दूसरा अध्यवसान कह रहे हैं कि पर्याय से उपयोग का लगाव रखना। मैं मनुष्य हूँ, ऐसी यदि प्रतीति है तो वह अध्यवसाय है। यहाँ यह कहने की उत्सुकता न आए तो क्या यह मनुष्य नहीं है। यह शरीर है, पर अपने आपमें ऐसे ज्ञानरस में इबो कि यह प्रतीति न रहे कि मैं मनुष्य हूँ। एक मोक्षमार्ग में, आत्ममार्ग में चलने की दिशा बतायी जा रही है। तो मैं तो अहेतुक ज्ञायकस्वरूप हूँ और ये कर्मविपाक से उत्पन्न हुए नारकादिक भव ये रागद्वेष के परिणाम में हुए हैं, ये समस्त अनात्मतत्त्व हैं। इन रूप मैं नहीं हूँ। ज्ञानी तो यह धारणा रखता है, पर अज्ञानी जीव को इस पर्याय से भिन्न कुछ मैं विविक्त पदार्थ हूँ ऐसा उसके ज्ञान में नहीं रहता है।

**द्वितीय अध्यवसान का परिणाम**—जब पर्याय से विविक्त ज्ञानमात्र अमूर्त आकाशवत् निर्लेप इस आत्मतत्त्व का परिचय नहीं होता, परिज्ञान नहीं होता तब तक अज्ञान है, और इस विविक्त आत्मतत्त्व का दर्शन न हो तो इसका अदर्शन है, और इस विविक्त आत्मतत्त्व में अभेद रूप से अनुभवन करने रूप आचरण न हो तो यह अचारित्र है। यह दूसरे प्रकार का भी अध्यवसान जिन मुनियों के नहीं है वे मुनि शुभ अथवा अशुभ परिणाम से लिस नहीं होते हैं। यह कहा गया है दूसरे प्रकार का अध्यवसान।

स्थुलभूत दोनों अध्यवसानों में अन्तर—इन दो अध्यवसानों में अन्तर इतना है कि पहिले तो वह करने में अपना भाव रखता था, मैं सुखी करता हूँ, दुःखी करता हूँ, जिलाता हूँ, मारता हूँ—इस प्रकार की क्रियाओं में अर्थात् उपयोग का लगाव रखने में और इन दूसरे प्रकार के अध्यवसानों में इस जीव ने कर्मों के विपाक में उत्पन्न हुए जो परिणमन हैं उन परिणमनों में लगाव रखा। जैसे कि छहढाला में लिखा है कि ‘‘मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।’’ तो यह जो परिणमन का लगाव है, यह मैं हूँ इस प्रकार का अध्यवसान मिथ्या है। कोई यह सोचने की उत्सुकता न रखे तो क्या मैं दुःखी नहीं हूँ? अरे हम दुःखी हों, पर दुःख से विविक्त जो हमारा अपने आपके स्वरूप के कारण सहजसत्त्व है उसका परिचय कराने की बात चल रही है। तो वह परिणमन में जो लगाव है वह लगावरूप अध्यवसान जिसके नहीं होता है वे मुनि कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं।

अध्यवसानों के न होने की परिस्थिति—जो ये अध्यवसान नहीं करते हैं उसका कारण क्या है कि उन्हें केवल आत्मा के सहज लक्षणरूप स्वभाव का दर्शन है, ज्ञान है और आचरण है। यही निश्चय रक्त्रय है, यही परम भेदविज्ञान है। इस स्वरूप के अध्यवसान की जब स्थिति नहीं होती है तो जीव को ऐसा परिणाम हुआ करता है कि मैं मारता हूँ, सुखी दुःखी करता हूँ, अमुक कार्य करता हूँ, यही है क्रिया का अध्यवसान और मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, ये हैं क्रिया के अध्यवसान। कर्मों के उदय से जो परिणति प्राप्त हुई है उस परिणमन में अपने अभेद का अभ्यास बनाना यह हुआ दूसरे प्रकार का अध्यवसान। अब तीसरे प्रकार का अध्यवसान कहते हैं।

अध्यवसानों की त्रिरूपता—यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि जिन मुनियों के अध्यवसान नहीं होता है वे पुण्यकर्म और पाप कर्म दोनों से लिप्त नहीं होते हैं। प्रकरण बहुत सूक्ष्म है और कठिन है, पर थोड़ासा इस सम्बन्ध में कहेंगे और आप लोग सावधानी से सुनें। यहाँ बतला रहे हैं कि अध्यवसान के परिणाम अर्थात् अनात्मा की ओर लगने वाले परिणाम तीन तरह के होते हैं। एक तो करने में लगाव रखना और दूसरे अपनी वर्तमान पर्याय में लगाव रखना और तीसरे जो जाना जा रहा है, जो ज्ञेयाकार विकल्प होता है उसमें लगाव रखना—ये तीन अध्यवसान होते हैं।

क्रियाध्यवसान—इसमें सामान्य रूप के यह बताया था रहा है कि मैं दूसरे को मारता हूँ? सुखी करता हूँ, दुःखी करता हूँ, इस प्रकार के करने मैं अपना विकल्प बना सो यह प्रथम जाति का अध्यवसाय है। है तो इसकी शुद्ध ज्ञसि क्रिया, आत्मा की क्रिया केवल जानन मात्र है, पर उस

क्रिया के आश्रय से अध्यवसान करना, मारना, सुखी करना, दुःखी करना आदि औपाधिक क्रियाओं में लगाव बना लेना यही है क्रियाविषयक अध्यवसान।

कर्मोदयाध्यावसान—दूसरे यह आत्मा भगवान्, है तो सहजज्ञायकस्वरूप किन्तु अपनी उस सहज प्रतीति से चिगकर जो परिणमन पाया है, औपाधिक मनुष्यादि भव जो पाया है उसमें यह मैं हूँ इस प्रकार का लगाव होता है, यह है दूसरी जाति का अध्यवसान।

**ज्ञायमानाध्यवसान**—अब तीसरे प्रकार का अध्यवसान कह रहे हैं यह धर्मद्रव्य जाना जा रहा है अथवा अन्य कुछ ज्ञेय पदार्थ मिला, यहाँ धर्मद्रव्य का स्वरूप जैसे यहाँ धर्मद्रव्य जाना जा रहा है, सो ऐसा जो अपने आपमें विकल्प है वह ज्ञायमानाध्यवसान है। जानन अध्यवसान नहीं है किन्तु मैं इसे जान रहा हूँ इस रूप से जो ज्ञायमान में अध्यवसान है वह अध्यवसान भी मुनियों के न हो तो उनकी उत्कृष्ट ऋद्धि होती है।

**तीनों अध्यवसानों का समाहार**—मैं करता हूँ, मैं दुःखी सुखी करता हूँ आदि क्रियाओं में लगाव हो तो क्रियाओं का अध्यवसान है और मैं इसे जान रहा हूँ ऐसा जानने का विकल्प उठाना सो यह ज्ञायमान अध्यवसान है। जानन ज्ञान का स्वभाव है, पर मैं इसे जान रहा हूँ इस प्रकार का जो विकल्प है वह स्वभाव नहीं है। जानना तो स्वभाव है। तो ज्ञान सम्बन्धी जो विकल्प होता है वह है ज्ञायमान अध्यवसान।

**ज्ञायमानाध्यवसान और आत्मतत्त्व में अन्तर न मानने का फल**—आत्मा तो ज्ञानमय है। ज्ञान एक स्वरूप है जो कि सत् है और अहेतुक है। ‘मैं जान रहा हूँ’ इस प्रकार का जो विकल्प है उसमें निमित्त तो कर्मोदय है पर जानन में निमित्त कर्मोदय नहीं है। जानना आत्मा का स्वभाव है। तो जो शुद्ध अहेतुक एक ज्ञानस्वरूप है ऐसे इस आत्मा के और ज्ञेय हो रहे हुए धर्मादिक द्रव्यों के विशेष अन्तर को यह नहीं जान रहा है सो यहाँ उन ज्ञायमान पदार्थों से भिन्न अपने आत्मा का ज्ञान न करने से अज्ञान बना हुआ है और इस विविक्त आत्मा का दर्शन न होने से अदर्शन है और इस विविक्त आत्मा का जैसा सिद्ध किया जाने योग्य कार्य है, ज्ञासि है, राग किया है ऐसी क्रिया का आचरण न होने से इसके अचारित्र होता है।

**प्रभु दर्शन के लिये पर विविक्त होने की आवश्यकता**—यो समझ लो भैया ! कि अपने भगवान से मिलने के लिए तुम्हें कितनी बाह्य बातों से दूर होना है और यह चाहो कि पर के बच्चों में भी मोह रहे, उनका भी राग करते रहें और मंदिर आएँ हाथ जोड़े, पूजा का पाठ पढ़ जाएँ और धर्म पूरा कर लिया सो ऐसे संतोष न करो। यहाँ तो हम सीखने आते हैं कि प्रभु का ऐसा स्वरूप है, १८ दोषों से रहित है, ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न है और भावना करने आते हैं कि हे प्रभो ! मेरे भी विषय कषाय दूर हों। जिस मार्ग से चलकर आपने इन्द्रिय विजय किया, मोह दूर किया, केवलज्ञान उत्पन्न किया, कृतार्थ हुए आप, ऐसा ही मुझमें बल प्रकट हो, ऐसी भावना करने यहाँ आते हैं, ते हैं, शिक्षा लेने आते हैं, ते हैं, कुछ इस प्रकार का ध्यान जमाने यहाँ आते हैं और उस प्रभुता की स्वच्छता पर अनुराग भक्ति प्रगट करने आते हैं।

**व्यवहार में भी परमार्थप्रतीति**—भैया ! प्रेक्टिकल करने का काम तो मंदिर से बाहर जाकर बाकी २३-२३॥ घंटे पड़े हुए हैं तब आत्मबल प्रबल करना है। वह क्या कि गृहस्थावस्था में रहकर यद्यपि सब कुछ करना पड़ता है, दुकान भी घर भी फिर भी, हम यथायोग्य अपनी ओर से स्वभाव की प्रतीति रखकर ऐसा भाव बनाए रहें कि यह सब करना पड़ रहा है पर करने का काम तो मेरी शुद्ध ज्ञासि किया का ऐसा परिणाम रहे, यह हैं करने का काम और इसके विपरीत किसी भी प्रकार का लगाव है तो वह बंध का ही कारण होता है। जिन साधुजनों के यह अध्यवसान नहीं होता है वे मुनि श्रेष्ठ हैं। वे मुनिजन अपने इस विविक्त आत्मा को जानते हैं। विविक्त का अर्थ है सबसे निराला। मायने उस विविक्त आत्मस्वरूप की भावना भोगते हैं।

**अपना परमार्थ कार्य**—हम व्यवहार किया करें फिर भी प्रतीति ज्ञान की यह रहे कि हमें इन व्यवहार

धर्मों से भी आगे परे जाना है। तो मैं आत्मा भगवान् सत् अहेतुक जानन किया मात्र हूँ। कोई पूछे कि तुम्हारा असली काम क्या है तो उत्तर होना चाहिए कि केवल जाननहार रहना, यही हमारी असली क्रिया है। पर मैं इस फंदे में पड़ गया हूँ। तो करने के विकल्प में दूसरे को अपना मानने के विकल्प में अपने आपके विकल्प के विरुद्ध कुछ बात दिखे तो क्षोभ आता है और अनुकूल बात दिखे तो प्रेम बढ़ता है, इस प्रकार के व्यापार में रहा करते हैं। तब फिर करना क्या है केवल एक शुद्ध ज्ञाता रहने का काम तो यह तो हो नहीं पाता। तो कोशिश करें। वह कोशिश क्या है? स्वाध्याय करें, देव भक्ति करें, गुरु सत्संग करें, गुणों का अनुराग रखें, दूसरे के दोषों पर दृष्टि न दें। सच्चाई के साथ अपना व्यवहार रखें, इन सब कोशिशों में रहकर अपने इस ज्ञायकस्वरूप के अनुभव करने का पात्र रहा जा सकता है।

**साधुवों का साधु ज्ञान—साधुजन सत् अहेतुक ज्ञसि क्रियामय अपने आत्मस्वरूप को जानते हैं।** यह मैं ज्ञायक मात्र हूँ, चैतन्य हूँ जो कि अहेतुक है, जिसे किसी ने घड़ा नहीं है, अनाथ नहीं है, किसी दिन से इस मुझकी सृष्टि नहीं हुई है, मैं अनादि से अकारणक हूँ, किन्हीं कारण से मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है, मेरा सत्त्व स्वतःसिद्ध है, ऐसे ज्ञायकस्वरूप निज आत्मा को ज्ञानी संत पुरुष जानते हैं और जानते हैं कि जो विकल्प उठता है, आकार होता है वह परिणमन है। मैं तो उसके आधारभूत ध्रुव ज्ञान स्वभावरूप हूँ, ऐसे सबसे निराले अपने आत्मा को जानते हुए वे मुनिजन अपने आत्मा को देखते हैं, जानते हैं और उनकी यह ज्ञानवृत्ति ज्ञानप्रकाश बड़ी तेजी से स्वच्छरूप में एकदम स्वच्छन्द होता हुआ फैल जाता है। उसमें किसी की रुकावट नहीं होती है।

**ज्ञानियों के ज्ञानभाव की स्थिरता—ऐसे ज्ञानीसंतों के अज्ञानरूपता का अभाव हो जाता है।** इस ही कारण वे शुभ अथवा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से लिस नहीं होते हैं। यहाँ यह बात बतलायी गई है कि जिस जीव के इस प्रकार का भेदविज्ञान नहीं होता वह तो मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री है और जिसके भेदविज्ञान हुआ वह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्री हुआ। इसकी स्थिरता जैसे-जैसे होती जाती है वैसे ही वैसे सम्यक्चारित्र भी बढ़ता जाता है। फिर उसके कर्मबंध नहीं होता है।

**अध्यवसान का काल—**तो फिर यह जीव कितने समय तक परभावों से अपने को जोड़ा करता है? जब तक संकल्प विकल्प उठते हों तब तक यह परभावों लगा रहता है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञानमात्र है, यही आत्मा की ऋद्धि है। पर यह अज्ञानी जीव आत्मा की ऋद्धि का ग्रहण नहीं करता। चेतन अचेतन बाह्य परिग्रह इनकी ऋद्धि जोड़ने में, संचय करने में अपना बड़प्पन मानता है। इतिहासों में पढ़ो, पुराणों में पढ़ो बड़े-बड़े राजा महाराजा पुरुष भी आखिर अपना जीवन छोड़कर चल गए। तो यहाँ जिसके संकल्प विकल्प नहीं होता उन्हें ही इस आत्मा की ऋद्धि प्राप्त होती है। जब तक आत्म स्वरूप विषयक ज्ञान नहीं जगता तब तक स्त्री पुत्रादिक में यह संकल्प विकल्प किया करता है और अपने अंतरङ्ग में हर्ष विषाद रूप परिणाम करता है यही तो अज्ञान है और जब तक अज्ञान है तब तक इसको अपने आप कष्ट है। कोई कष्ट बाहर से लाना नहीं पड़ता। अपना ही ज्ञान बिगड़ा तो कष्ट हो गया।

**ज्ञान का प्रताप—**बड़े-बड़े योगीश्वर जंगल में रहकर शेरों के आक्रमण के बीच भी अपने आपको जो

सावधान रखते हैं, ते हैं, प्रसन्न और संतुष्ट रखते हैं वह उनके इस ज्ञान का ही प्रताप है। विषाद तो तब होता है जब बाह्य पदार्थों में ममता होती है और बाह्य पदार्थों में ममता नहीं है तो वहां विषाद नहीं जगता है। सो ऐसा यत्न करो, ऐसा ज्ञान बढ़ावो, ऐसी शुद्धआत्मा की भावना करो कि यह मोह मिट जाये। सबसे घोर दुःखदायी है तो मोह है।

**मोह की घृणितता—भैया!** इस जगत् में सबसे घिनावना, न देखने लायक यदि कुछ है तो वह मोह है। लोग कहते हैं कि ये नाक, थूक, मल मूत्र, पसीना गंदी चीजें हैं। भला यह बतलावों कि ये बेचारे पुद्गल, जिनमें रूप, रस, गंध स्पर्श है, किसी से बोलते नहीं, छेड़ते नहीं, उन बेचारों से घूणा करें और जिसने इन्हें घिनावना बनाया है उससे प्रीति नहीं छोड़ते हैं। इन नाक, थूक, मल, सूत्र आदिक को घिनावना किसने बनाया है? इस शरीर ने। चलो शरीर ने ही सही। इस शरीर के ही कारण तो ये चीजें घिनावनी बनीं, पर यह तो बतलावों कि इस शरीर को भी किसने घिनावना बनाया? क्या बोलोगे क्या कर्मों के उदय ने घिनावना बनाया? अच्छा यह ही सही, कर्मों के उदय ने ही बनाया पर उन कर्मों को किसने बनाया बनाने वाला तो निश्चयदृष्टि से कर्मों का उपादान ही है। मगर कर्म अपनी ओर से अपने स्वभाव से नानारूप नहीं होते। कोई उसमें निमित्त होता है तब नाना रूप होते हैं। तो वे क्या हुए? निमित्त। जिनका निमित्त पाकर कर्मबंध हुआ। रागद्वेष किया तो कर्म बंध हुआ, विपाक हुआ, शरीर की रचना हुई। तो यह राग द्वेष परिणति घिनावनी चीज निकली। तो रागद्वेष को किसने बनाया उसका मूल कारण क्या है? तो रागद्वेष का मूल कारण है मोह। तो सबसे घिनावनी चीज क्या रही मोह।

इस घिनावने मलिन मोह परिणाम से रागद्वेष हुए। रागद्वेष निमित्त से कर्मबंध हुआ और कर्मोदय के निमित्त से यह पर्याय रचना हुई आर वहाँ ये मल, थूक वगैरह हुए। जीव ने जब तक इस शरीरवर्गणा को ग्रहण न किया था तब तक क्या घिनावना था और यह पुद्गल तो सामान्यरूप से रूप, रस गंध, स्पर्श सहित पवित्र निराला था, शुद्ध था, इसमें घिनावनेपन की कोई बात न थी, पर इस मोही जीव ने जब उन्हें अंगीकार किया तो कुछ काल के बाद ही घिनावनेपन का परिणमन बन गया। तो मूल से किसने घिनावना बना दिया? इस मोह ने। सबसे अधिक घिनावनी चीज है तो वह मोह।

**मोह से आत्मा का बिगाड़—यह मोह** इन तीन प्रकार के अध्यवसानों के रूप में फूट निकला है। यह अध्यवसान मोह का रूप रख रहा है, जो रागद्वेष से भी कठिन मलिन है। रागद्वेष आत्मा का उतना बिगाड़ नहीं कर पाते जितना बिगाड़ मोह से होता है। मोह अंधकार है, उस मोहांधकार में कल्याण का मार्ग नहीं सूझता। कल्याण तो है अपनी जाननमात्र क्रिया बनाए रहने में, पर मोह में सुख दुःख, जीवन मरण आदि करने का विकल्प करने लगा। इसका आश्रय तो स्वाभाविक था ज्ञायकस्वरूप का अनुभव। किन्तु यह ज्ञायक स्वभाव अनुभव से चिगकर अनुभव करने लगा कि मैं स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, नाना प्रकार के परिणमनों में अपना लगाव रखने लगा। यह मोह का ही तो प्रभाव है। स्वयं सहज कैसा है, उस आत्मतत्त्व को न जाना।

**प्रभु का उपदेश—भैया!** इसका स्वाभाविक अनुभवन तो था ज्ञानमात्र ज्ञानस्वभावमात्र। पर उस ज्ञान

की वृत्ति में जो ज्ञेय आया, विकल्प आया सो जानने लगा कि मैं जाननहार हूँ, मैं जानने वाला हूँ, इस प्रकार का विकल्प भी अध्यवसान है। जानन अध्यवसान नहीं है। सो जब तक इस प्रकार का मोह, संकल्प विकल्प, हर्ष, विशाद इस जीव में रहते हैं। तब तक आत्मा में विकास नहीं जगता और शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बंध करने वाली क्रियाओं को करता रहता है। अपने को सबसे निराला समझने का यत्न करो, प्रभु का यही उपदेश है।

**प्रभु को वास्तविक भक्ति से अलगाव—जैसे कोई अपने पिता का वचनों से तो सत्कार करे, भीठे वचन बोले,** पर बात एक न माने तो उसे पिता का सेवक नहीं कहा जा सकता। उन मीठी बातों से ही पिता का पेट भरे और खाने को रंच न पूछे, ऐसा कोई चालाक बालक हो तो उसे पिता का सेवक नहीं कहा जा सकता। इसी तरह हम मीठी बातों से भगवान का दर्शन कर जाये पर भगवान की बात एक भी न मानें, अपने मोह में फर्क न डालें, रागद्वेष में अन्तर न डालें, कहो मंदिर की ही वेदी में खड़े-खड़े गुस्सा करने लगें तो बात तो प्रभु की एक भी न मानी ना। अंतर में विचारों कि इस प्रकार के परिणाम रखकर कोई भगवान का सेवक कहला सकेगा क्या?

**प्रभु की वास्तविक भक्ति—मैया !** न भी बने प्रभु के उपदेशों का पालन किन्तु इतना ख्याल तो बना लेना चाहिए कि करने योग्य काम तो प्रभु के उपदेश में यह बताया है पर मुझसे बनता नहीं है। इतना भी कम से कम ख्याल हो तो भी समझना चाहिए कि हम प्रभु के सेवक हैं। यह अध्यवसान परिणाम जिन ज्ञानी संत पुरुषों के नहीं होता है वे किसी भी प्रकार के कर्मों से लिस नहीं होते। जिन्हें कर्मों से छूटना है वे कषाय न करें। कषाय न करने का प्रोग्राम न चाहिये तो उन्हें चाहिए कि मोहपरिणाम न करें। ऐसा किया जा सका तो समझिये अब हमने प्रभुभक्ति करना शुरू की है।

**अज्ञानमय अध्यवसान का दुष्परिणाम—जो जीव निज शुद्धज्ञायकस्वरूप के अतिरिक्त और जाननमात्र काम के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के करने में लग गए, अन्य पदार्थों को अपना मानने में लग गए तो वे पुरुष मोही हैं और मोह के फल में उन्हें रागद्वेष अवश्य होंगे और जहाँ रागद्वेष किया वहाँ संसार में फंस गया समझो। जन्म मरण के चक्रों से यह मोहीजीव नहीं छूट सकता, ऐसा जानकर एक ही भाव बनावो कि मोह न रहे, ममता न रहे। अपने आपके स्वरूप की खबर बनी रहे। यदि यह काम किया जा सका तो समझो कि हमने यह मनुष्यजीवन पाकर कुछ कार्य किया। नहीं तो जन्म मरण तो लगा ही चला जा रहा है। जैसे अनन्तभव बिता दिए वैसे ही यह भव भी व्यतीत हो जायेगा।**

**अपनी संभाल—अब भी संभल जायें तो बड़ी विशेषता की बात है।** सो हर एक यत्न करके ज्ञान को बढ़ाने की भावना होनी चाहिए। पढ़ करके स्वाध्याय करके, चर्चा करके, ध्यान बनाकर, भावना करके, जो समझा है उसका लक्ष्य करके किसी भी क्षण अपने आत्मा के ज्ञानसुधारस को एक बार चख तो लो। यदि ज्ञानसुधा रस का स्वाद लिया जा सका तो उसके प्रताप से नियम से कभी संसार कट जायेगा, मुक्ति नियम से होगी। जिसने अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव किया है वह निकट भविष्य में शुद्ध हो ही जावेगा।

**प्रकरणप्राप्त शिक्षा**—सो इस गाथा के सुनने से यह शिक्षा लेना है कि इस जीव का मात्र जानन का काम है। हम यह जानें कि मेरा स्वरूप तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, हम तो एक आकाशवत् निर्लेप अर्मृत किन्तु ज्ञानज्योति करके स्वच्छ चेतन पदार्थ हूं। जैसे हम स्वतन्त्र हैं तैसे ही स्वतंत्र समस्त पदार्थ हैं, ऐसा जानकर मोह ममता से दूर होकर अपने आपकी और द्व्युके रहने का यत्न करना चाहिए। इस तरह ज्ञानमार्ग में बढ़ने वाले ये मुनिजन अपने ज्ञानमय भाव के कारण शुभ अथवा अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते।

अब इस अध्यवसान का कई नामों द्वारा वर्णन करते हैं।

## गाथा २७१

बुद्धी ववसाओ वि य अज्ञवसाणं मई य विणाणं ।

**एकट्टमेव सबं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥**

अध्यवसान के पर्यायनाम और प्रथम चार का संक्षिप्त निर्देश—व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम—ये ८ अध्यवसान के नाम हैं। ये आठों ही प्रकार के अध्यवसान स्व और पर का विवेक न होने से बंध के कारण होते हैं। अध्यवसान का अर्थ है खोटा परिणाम, ज्ञानातिरिक्त भावों में लगाव। मेरे सहजस्वरूप के अतिरिक्त जो परिणमन हैं, वे अध्यवसान हैं। बुद्धि कहते हैं समझने को। स्व और पर का जहाँ भेदविज्ञान नहीं है ऐसी स्थिति में जो भी समझ बनती है वह अध्यवसान है, बंध का कारण है। व्यवसाय कहते हैं पुरुषार्थ को, प्रयत्न को उद्यम को। आत्मा और अनात्मा का भेद न होने पर जो भी यत्न होते हैं वे यत्न भी अध्यवसान हैं, वे भी बंध के कारण हैं। मति कहते हैं मनन को मनन होना, चिंतन होना, उसमें विशेष तर्क सहित विचार डोलना यह भी तो आत्मा और अनात्मा का भेदविज्ञान न होने पर होता है, तो यह भी अध्यवसान है।

**विज्ञान और अध्यवसान का निर्देश**—आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का भेद ज्ञात न होने पर जो विज्ञान चलता है वह विज्ञान भी अध्यवसान है और अध्यवसान कहते हैं निश्चय को। आत्मा और अनात्मा का विवेक न होने पर जो यह जीव अपना निर्णय किया करता वे सब निर्णय अध्यवसान हैं। जिस जीव को अपने स्वरूप का पता नहीं है और पर के स्वरूप का पता नहीं है उसका निर्णय जो कुछ भी होगा वह अज्ञानरूप निर्णय होगा, क्योंकि उसे अपने स्वभाव का पता नहीं है। तो वह निर्णय करेगा बाहरी पर्यायों का उनको सर्वस्व द्रव्य मानता हुआ निर्णय करेगा। वह निर्णय अध्यवसान है, स्वभाव नहीं है। चित् का जो होना है, जीव का जो कुछ हो रहा है अविवेक स्थिति हो तो वह होना भी अध्यवसान है।

**सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान**—भैया ! मूल बात तो आत्मा और अनात्मा के भेद के ज्ञान होने या न होने पर निर्भर है। भेदविज्ञान जिस जीव के होता है उस जीव के बाहर में चाहे वह कोई रस्सी का सांप भी जान ले फिर भी उसके सम्यग्ज्ञान में फर्क नहीं होता। जो कुछ भी वह पुद्गल पिंड जान रहा है उस सम्बन्ध में उसे पूरा निश्चय है कि यह पौद्गलिक है, परमाणुवों का पुञ्ज है। इन्हीं परमाणुवों के उपादान में यह प्रकट हुआ है। इसमें अणु-अणु सब भिन्न-भिन्न सत् है। पर उसका एक पिण्डरूप बंधन है। सब कुछ

ज्ञान उसके बराबर बना हुआ है और जिसको आत्मा और अनात्मा का भेद ज्ञात नहीं है वह पुरुष सांप को सांप जाने, रस्सी को रस्सी जाने तो भी उसके मिथ्याज्ञान कहा गया। क्योंकि उसे यह जानकारी है कि यह रस्सी है। इसके सम्बन्ध में स्वरूप व कारण की जानकारी नहीं है। लोक व्यवहार में जितना कुछ समझ पाया उस समझ के अनुसार उसकी गति चल रही है।

अज्ञानी के ज्ञात वस्तु के स्वरूप का अनिर्णय—यह रस्सी क्या चीज है? विनाशीक है या अविनाशी है, यह किन उपादानों से उत्पन्न होता है किनका निमित्त पाकर क्या परिस्थिति होती है? न स्वरूप का पता है, न कारण का पता है, न कोई परिस्थिति का पता है। ऐसी स्थिति में रस्सी को रस्सी भी जाने तब भी मिथ्याज्ञान है। जिस जीव ने अपने आत्मा का और अनात्मा का यथार्थ विश्लेषण नहीं किया है वह पुरुष जिस-जिस रूप भी बनता है, होता है, वह सब होना अध्यवसान है। अध्यवसान का अर्थ है—ज्ञानभाव को छोड़कर बाकी समस्त परभाव अहितरूप भाव।

परिणामरूप अध्यवसान व आठों का निष्कर्ष—इसी प्रकार इस चेतन का जो भी परिणमन होता है, परिवर्तन होता है वह परिणाम भी स्व और पर के भेदविज्ञान बिना हुआ वह अध्यवसान है। ये सब एकार्थक हैं। इनका जो मूल स्वरूप है वह सब एकार्थक है। इस अध्यवसान परिणाम से यह जब संसार में डोलता है तो कहते हैं कि जीव को चैन नहीं है आकुलता बसी हुई है। कोई सुख में नहीं रह रहा है। किसी के मन में कोई क्लेश है, किसी के मन में कोई क्लेश है। क्लेश का अभवन करता हुआ स्व-पर के अविवेक में परिणमता हुआ यह जगत् संसार चक्र में जन्म-मरण करता फिर रहा है। क्लेश मिटाने की जरा-सी तो औषधि है कि समस्त बाह्यपदार्थों की आशा को त्याग दें। रहना तो कुछ भी साथ नहीं है, मिट तो जायेगा, आशा क्यों नहीं छोड़ी जाती है? हमारे साथ रहेगा कुछ नहीं। वियोग हो जायेगा। सब अपने-अपने स्थान के हैं किन्तु इनकी आशा नहीं छूटती। व्यर्थ की आशा लगाये हैं। जबरदस्ती छूट जाने पर भी नहीं छोड़ना चाहते। आशा छोड़ दें तो अभी दुःख मिट जाये।

क्लेश और क्लेशमुक्ति का उपाय—मैया! कौनसा दुःख है जीवों पर सिवाय आशा के लगाव के? आशा छूट सकती है तो आशारहित शुद्ध ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से छूट सकती है। अमोघ उपाय अपने आपमें वर्तमान है और आशारहित केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूप की प्रतीति न हो और जैसे कि सुन रखा है, लोगों ने समझ रखा है, उस पद्धति से मात्र बाह्य उपाय करते रहे, चीज छोड़ दें, किसी और धर्मकार्य में लग गए तो भले ही थोड़े समय को महान् क्लेश मिटकर संतोष हो जाये, लेकिन फिर यह आशा उखड़ जाती है। आशा का जिसने परित्याग किया वह जीव सुखी रहता है और जिसके आशा का लगाव रहता है वह दुःखी रहता है। अपनी-अपनी बातें सब सोच लो। कहां-कहा आशा लगा रखी है? आशा का लगाव न रहे तो सारे क्लेश अभी दूर हो सकते हैं।

बन्ध के कारण और कारण के कारण—अपने ज्ञानभाव को छोड़कर अन्य भावों में अपना स्नेह करना, लगाव रखना ये ही तो सर्व अध्यवसान है। सो रागादिक अध्यवसानों का कारण बाह्य वस्तु है। और रागादिक अध्यवसान बंध का कारण है। जीव के साथ जो कर्म बंधते हैं उन कर्मों के बँधने का कारण उनका

रागद्वेष भाव है। राग करते और दुःखी होते हैं। रागद्वेष जो उत्पन्न होते हैं वे किसी न किसी परवस्तु का आश्रय करके होते हैं। किसी भी परवस्तु का ख्याल रहता है तो वहाँ रागादिक होते हैं। तो बंध के कारण है ये रागादिक और रागादिक के कारण हो रहे हैं हैं ये बाह्य पदार्थ। इसलिए बाह्य पदार्थों का त्याग बताया गया है। पर केवल बाह्यपदार्थों के त्याग करने मात्र से कर्मबंध नहीं रुकता किन्तु बाह्य पदार्थ विषयक जो रागद्वेष भाव चला करते हैं वे सभी राग परविषयक हुआ करते हैं, उन रागादिकभावों का परिहार कर देने से कर्मबंध दूर होते हैं।

**दृष्टि, प्रवृत्ति व निवृत्ति का उदाहरण—**इस प्रकरण में अध्यवसान का परित्याग कराया गया है। सभी वस्तुओं में अध्यवसान को त्यज्य बताया है। जिनेन्द्र प्रभु ने जब सभी वस्तुओं में अध्यवसान करना त्यज्य बताया है तो इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त व्यवहार त्यज्य बताया है। यहाँ अपने हित के अपनी सिद्धि की बात कही जा रही है। व्यवहार में रहते हुए भी व्यवहार से परे शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि करना, यही कल्याण का मार्ग है। व्यवहार को बिगड़ लेना यह भी कल्याण का मार्ग नहीं है और व्यवहार से दूर रहकर केवल कल्याणमार्ग की चर्चा कर लेना, यह भी मार्ग नहीं है।

**शुद्धोपलब्धि के पूर्व प्रवृत्ति और निवृत्ति—**जैसे कोई सीढ़ियों को ही पकड़कर रह जाये कि ये सीढ़ियां तो ऊपर चढ़ाने में कारण है, हमारा भला करने वाली हैं, हम इन सीढ़ियों के प्रसाद से ऊपर पहुंच जाते हैं। इसलिए हे सीढ़ियों तुम हमें बहुत प्रिय हो, सीढ़ियों को खुश करके ही रह जाये तो ऊपर पहुंचना कैसे बन सकता है और कोई नीचे ही खड़ा रहे व सोचे कि ऊपर का स्थान तो सीढ़ियों से बिल्कुल अलग चीज है, सीढ़ी तो त्यज्य हैं, उनको तो छोड़ना ही पड़ता है, ऐसा जानकर नीचे खड़े ही खड़े ऊपर के गुण गाता रहे, सीढ़ी पर चढ़कर न आए तो भी ऊपर नहीं पहुंच सकता है। जैसे हम आपके व्यवहार में यह काम सहज चलता है कि हम सीढ़ियों से चढ़ते हुए और छोड़ते हुए चले जाते हैं और ऊपर पहुंचते हैं इसी प्रकार व्यवहार की प्रवृत्तियां होती हैं और उन व्यवहारों में पूर्व-पूर्व के व्यवहार छोड़ते जाते हैं उत्तर के व्यवहार में लगते हैं। फिर उसे छोड़कर आगे व्यवहार में लगते हैं, लेकिन यह पूर्व व्यवहार को छोड़ना उत्तर व्यवहार में लगना यह शुद्ध कैवल्य की प्राप्ति के लिए हो रहा है।

**अध्यवसान के त्याग में प्रवृत्ति का त्याग—**भैया ! यथार्थ दृष्टि जगे, ज्ञानप्रकाश बने तो सब बातें सुगम हो सकती हैं। तो समस्त ही पदार्थों में हमारा अध्यवसान न होना चाहिए। राग न हो, किसी परपदार्थ का ख्याल तर्क, मनन यत्र ये न हो, पर-पदार्थविषयक अध्यवसान न हो तो फिर क्या व्यवहार करें ? कहते हैं कि पर का ख्याल न करो और व्यवहार बनना है पर का ख्याल रखकर। आत्मतत्त्व से भिन्न जो कुछ अनात्मतत्त्व है उनका किसी न किसी प्रकार आलम्बन रखकर व्यवहार बनता है। जब अध्यवसान का त्याग कराया गया है तो उसका अर्थ यह है कि व्यवहार का ही त्याग कराया गया है क्योंकि पर का आश्रय छुड़ाया गया है। पर का आश्रय करके अपने आपको हित के मार्ग में पहुंच सकने का परिणाम रखना मिथ्याभाव है। निज का आश्रय करने के लिए पर का जो आश्रय किया जाता है वह व्यवहार धर्म है और केवल पर ही लक्ष्य से पर में ही रमते हुए पर का आश्रय करना सो कल्याणमार्ग में बाधा है।

पर के आश्रय का त्याग—सो हे कल्याणार्थी जनो ! आचार्यदेव ने सर्व प्रकार से पर का आश्रय छुड़ाया है, इसका अर्थ यह समझना कि सभी प्रकार का व्यवहार छोड़ना है । पर कोई व्यवहार वृत्ति में तो न हो और पहिले से ही छूटा हुआ अपने को रखे तो उसके लिए यह उपदेश नहीं है । वे तो निश्चयाभासी अज्ञानीजन हैं किन्तु उस शुद्धस्वभाव की दृष्टि इतनी तीक्ष्ण हो जाये कि उसकी प्राप्ति के लिए हमारा सारा उद्यम चलने लगे और उन उद्यमों के करते हुए हम उन उद्यमों से परे आत्मस्वभाव का लक्ष्य करने लगें तो हम उस ध्येय पर पहुंच सकते हैं । सब ही वस्तु के समस्त अध्यवसानों का त्याग कराया गया है । उसका अर्थ यह है कि समस्त परद्रव्यों का आश्रय छूट गया है । जो संतपुरुष हैं वे भली प्रकार इस निश्चय को ही निश्चल अंगीकार करके शुद्धज्ञानस्वरूप की महिमा में स्थिर होते हैं ।

**व्यवहार—परवस्तु** के त्याग का चरणानुयोग में उपदेश है । उसका मतलब यह है कि मन से, वचन से, काय से किसी परवस्तु का आश्रय मत करो । अपने मार्ग का सही दर्शन हो जाने पर फिर वृत्ति करना सुगम हो जाता है । पहिले निर्णय करो कि हे आत्मन् ! तेरे हित को क्या दूसरा कोई कर सकता है ? हाँ जब तुम अशुभोपयोग में और अशुभोपयोग की धारणाओं में चल रहे हो तो उससे बचने के लिए शुभोपयोग करो, स्वाध्याय करो, चर्चा ज्ञान करो, प्रभु की भक्ति करो ताकि उपयोग अशुभभावों में न जाये । जब प्रभु के शुद्धस्वरूप पर दृष्टि होती है और अपने आपके वर्तमान पाप की वृत्ति का परिज्ञान रहता है उस समय ऐसा प्रायश्चित्त होता है और प्रायश्चित्त पूर्वक ऐसा भाव होता है कि प्रभु के गुणानुराग के कारण पाप कट जाते हैं । सो भिन्न-भिन्न पदवियों में करने योग्य भिन्न-भिन्न क्रियायें हैं उन सर्व स्थितियों में भी एक सहज स्वरूप को निश्चल अंगीकार करो और अपने आत्मस्वभाव में स्थिर हो । केवल रटंत तो काम न देगा । कोई चीज सुन रहे हैं, जान रहे हैं, उस रूप अपने आपमें इन भावों का परिणमन बने तो उससे सिद्धि होती है ।

**मर्म की अनभिज्ञता पर एक दृष्टान्त—एक तोता था किसी पंजाबी के घर में ।** उसने तोते को एक बात सिखा रखा था । “इसमें क्या शक ? ” और कोई बात बोलना न जानता था । कोई ब्राह्मण आया । तोता जरा रंग का भी सुन्दर था । ब्राह्मण ने मालिक से पूछा कि क्या तोता बेच सकते हो ? बोला—हाँ बेचेंगे । कितने का दोगे ? यह १०० रु० का मिलेगा । अरे तोते की कीमत कहीं १०० रु० होती है ? तो वह बोला कि इस तोते से पूछ लो ना । ब्राह्मण पूछता है कि क्यों तोते क्या तुम्हारा मूल्य १००) है ? तो तोता क्या बोला ? इसमें क्या शक ? ब्राह्मण ने सोचा कि यह तोता तो बड़ा विद्वान् मालूम होता है । कितना तर्कपूर्ण उत्तर इस तोते ने दिया । वह १००) में खरीदकर अपने घर ले आया । अच्छे पिंजड़े में रखा दिया, दूध रोटी खिलाया ।

दो एक दिन बाद ब्राह्मण अपनी रामायण लेकर उसे सुनाने लगा । राम का चरित्र बोला । क्यों तोते सही बात है ना, तो तोता क्या बोला ? इसमें क्या शक ? उसने सोचा कि यह तो इससे भी अधिक विद्वान् है । सो जरा चारित्र की चर्चा करने लगा । क्यों यह ठीक है ना ? तोता बोला इसमें क्या शक ? सोचा कि यह तो इससे भी अधिक विद्वान् है । सो ब्रह्मस्वरूप की चर्चा करने लगा कि यह ब्रह्म अखण्ड, अहेतुक अविकारी है, क्यों यह ठीक है ना, तो बोला—इसमें क्या शक ? अब तो ब्राह्मण को शक हो गया । वह पूछता है कि हे

तोते ! मेरे १००) क्या पानी में चले गए? तो बोला—इसमें क्या शक ? एक ही रटंत थी उसकी ।

हितरूप परिणमने से लाभ—तो भैया ! हमारी शुद्धस्वरूप की चर्चा करना की रटंत बन जाये, अभ्यास बन जाये, तो उससे काम नहीं बनता है । किन्तु जैसा हम समझते हैं उस अनुकूल अपने अन्तर का भाव बनाएँ, उस प्रकार का कुछ परिणमन करें तो उससे लाभ मिलेगा । जिनेश्वर भगवान ने अन्य पदार्थों में जो आत्मीयता का लगावरूप परिणाम होता है उसे छुड़ाया है । जहाँ यह उपदेश दिया जाता कि पर का बिल्कुल लगाव छोड़ा, उसका अर्थ यह हुआ कि सर्व व्यवहार प्रवृत्तियां छूट गईं । तो जहाँ अन्तर से आश्रय छूट जाता है वहां अन्तर में शुद्ध व्यवहार रहता है, जाननरूप व्यवहार रहता है । मन, वचन, काय की क्रिया रूप व्यवहार नहीं रहता है । इस कारण अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा में स्थिरता रखो—ऐसे शुद्ध आत्मा के ग्रहण का उपदेश दिया है ।

स्वाधीन उपाय न किये जाने का आश्र्वय—यहाँ आचार्य देव यह आश्र्वय कर रहे हैं कि जहाँ अपने आराध्य भगवंतों ने यह उपदेश दिया है, अध्यवसान को छोड़ने की बात कही है तो ये जगत् के जीव इस अध्यवसान को छोड़कर क्यों आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होते हैं ? हम जाते हैं मंदिर में और भगवान से बड़ा अनुराग दिखाते जाते हैं कि भगवान के नाम की मूर्ति जो अचेतन है । जो बोलती नहीं है, कुछ ऐसा भी नहीं है कि कभी कोई भक्त बहुत भूखे हो तो उन्हें खिला भी दें, ऐसे भगवान के अमन्द अनुराग में आकर जिनकी मूर्ति को **रोज** पूजते हैं और सिर रगड़ते हैं, पर भगवान का एक उपदेश या तो जानते नहीं और जानते भी हैं कि सर्व प्रकार के पर का आश्रय छोड़ो यह प्रभु का आदेश है और विनतियों में पढ़ भी जाते हैं लेकिन छोड़ते नहीं । अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होने का यत्न नहीं करते ।

भावशून्य रटंत—भैया ! कहो वही पढ़ते रहे—‘आत्म के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये’ और कहो गुस्सा भी होते रहे । यह सब रटंत है । रट लेने से ही कार्य नहीं निकलता किन्तु अपने आपके उस प्रकार के परिणाम बनाने से कार्य निकलता है । सो भगवान का यह उपदेश समझकर कि सर्व परपदार्थों का आश्रय तजना है । पर का आश्रय तजें और अपने आत्मस्वरूप में स्थिर हो, यह मात्र उत्कृष्ट कर्तव्य हमारे इस जीवन में है । पर का संग्रह विग्रह करके, संचय करके, देख-देख कर क्या करोगे ?

असार के अर्थ श्रम—भैया ! जब छोटे हैं तब यह इच्छा होती है कि हम खेलें । खेलने से जब पेट भर गया, कुछ और बड़े हो गए तो यह इच्छा हुई कि पढ़ें । पढ़ने से पेट भर गया तो यह इच्छा होती है कि उपाधि मिले । उपाधि मिल गई, उपाधि से छक गया तो इच्छा होती है कि घर बसायें, धन बढ़ायें । धन बढ़ गया । अब क्या करता है ? क्या होगा अब ? धन रखने की चिंता करेंगे । कहां धन रखना है ? इस चिंता में जीवन खोया, फिर क्या होगा है शरीर तो समय के अनुसार बदलता ही रहता है ना, सो अब बढ़े होने पर अगर अपने पल्ले कुछ पैसा दबा है तो लोग खुशामद करेंगे, सेवा करेंगे या जहर आदि खिलाकर मार देंगे । जल्दी मरे तो रकम मिले । बूढ़े हो गए, मान लो किसी के मारे न मरे तो स्वयं आयु का क्षय हो जायेगा । तो मर कर चले गए, सारा का सारा ठाठ यही पड़ा रह गया । क्या होगा इन समागमों से, जिन समागमों में इतनी रुचि रखते हैं, धुनि बनाते हैं कि भगवान का उपदेश हृदय में प्रवेश नहीं करता ।

**स्वभावाश्रय की शिक्षा—भाई !** समस्त परपदार्थों का आश्रय आत्मा के अहित के लिए है—ऐसा जानकर पर के आश्रय की भावना हटे अपने आप जो सहज सत्त्व के कारण शुद्ध आत्मा है उस आत्मा का आश्रय लें। अपने आपके स्वभाव का आश्रय लेने से मोक्षमार्ग मिलता है। दूसरे का आश्रय तकना यह हमारे मार्ग का रोधक है। सो यह शुद्ध ज्ञानघन जो अनन्त महिमारूप है उसमें अपने आपको रखना चाहिए, उसमें धृति बांधना चाहिए। इस तरह इन १५ गाथाओं में यह वर्णन किया गया है कि भाई तुम पर के विकल्प को तजो। तुम्हारा यह विकल्प मिथ्या है। जैसी तुम्हारे विकल्प में बात आयी वैसी बात पर में नहीं होती है, ऐसा जानकर पर का विकल्प छोड़ो। अपने स्वभाव का आश्रय करो।

**स्वभावाश्रय का प्रताप—निज स्वभाव के आश्रय से ही अपना हित प्रकट होगा।** हितरूप तो अब भी हम हैं। शिवस्वरूप तो अब भी हम हैं। स्वभाव कहां जायेगा; है स्वरूप तो वही का वही है। केवल स्वरूप की ओर दृष्टि करना है और ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि करना है कि उसका अनुभवन हो जाये फिर ये समस्त बाह्य विषय नीरस लगने लगेंगे और इसके नीरस लगने के कारण आत्मस्वरूप में स्थिरता बढ़ेगी और इस आत्मस्वरूप की स्थिरता के प्रताप से समस्त संकट और बंधन दूर हो जायेंगे, इसलिए सर्व यत्न करके एक आत्मज्ञान का उद्यम करो।

## गाथा २७२

एवं व्यवहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

**अध्यवसान के त्याग का तात्पर्य पराश्रयता का त्याग—अध्यवसान जितने हैं वे सब प्रतिषेध के योग्य हैं।** इसका अर्थ यह हुआ कि परपदार्थों का आश्रय करना ही प्रतिषेध के योग्य है। अध्यवसान होते हैं रागद्वेष मोह से। राग जितने होते हैं वे किसी परपदार्थ का विचार करके होते हैं। तो यह बतलाओ कि राग त्याज्य है या नहीं? त्याज्य है। राग होता है पर का आश्रय करके तो पर का आश्रय करना त्याज्य हुआ या नहीं? त्याज्य हुआ। इसलिये ये अध्यवसान का निषेध बताकर पर के आश्रय का त्याग कराया गया है। चाहे यह कहो कि पर के आश्रय का त्याग बताया, चाहे यह करो कि व्यवहारनय का त्याग बताया मोक्षमार्ग में बढ़ने वाले पुरुषों को जिन्हें कि निश्चयनय का पता है और जो अपने आत्मा के स्वभाव में स्थित हो सकते हैं उनके लिए निश्चयनय का आलम्बन कहा है और उस निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध किया गया है। जो निश्चयनय का आश्रय करते हैं वे मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

**निश्चयनय के आलम्बन की स्थिति—निश्चयनय और व्यवहारनय में जिस समय जिस चीज का गौत गया जाता है।** व्यवहारनय के भी इसमें कई प्रकरण हैं, वहां व्यवहारनय की बात कही है। यह गाथा निश्चयनय के प्रकरण की है, ऐसी पूरी हिम्मत करके एक निश्चय का ही ख्याल रखकर इसे सुनना है।

व्यवहार का विरोध करने की मंसा हो तो यह विषय फिट न बैठेगा । व्यवहार का विरोध करके निश्चय का आलम्बन करना योग्य नहीं है । पर व्यवहारनय का विरोध न करके निश्चयनय का आलम्बन करके मोह को दूर करके विकारों से परे होने का मार्ग आलम्बन के योग्य है ।

आत्माश्रितता होने में अध्यवसान का त्याग—निश्चयनय आत्माश्रित है, जो स्वाधीन हो वह तो है निश्चयनय का विषय और जो किसी पर के आलम्बन वाला हो तो उसे कहते हैं व्यवहारनय का विषय । तो निश्चयनय का विषय क्या हुआ है यहाँ जो अपने आपके आश्रय है । केवल अपने आपके आत्मा का लक्ष्य करके जो भाव होता है वह तो है निश्चयनय और आत्मा को छोड़कर परवस्तु का आश्रय करके, ख्याल करके जो भाव होता है वह है व्यवहारनय । तो जहाँ यह उपदेश किया गया है कि रागादिकभावों को छोड़ो तो उसका मतलब यह हुआ कि परवस्तु का ध्यान छोड़े । परवस्तु का जहाँ ध्यान छूटा तो उसका अर्थ यह हुआ कि केवल अपने आपके आत्मा का सहारा लिया ।

आत्मा का कर्तृत्व—यह आत्मा केवल ज्ञान ही कर सकता है । इसके **सिवाय** और कुछ मन, वचन, काय का व्यापार नहीं है । आत्मा इच्छा करता है । उस इच्छा के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का योग होता है और आत्मप्रदेश के परिस्पन्द से शरीर की हवा चलती है और शरीर की वायु के चलने से शरीर के अंग चलते हैं और उन अंगों के चलने के बाद बाह्य वस्तुओं के निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से कुछ परिणमन होता है, व्यवहार में जिसे कहते हैं कि मैंने किया । मूल में देखो तो मैंने केवल परिणाम किया । परिणाम के अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ । इस प्रकार अपने आपको यह देखना कि मैं परमार्थ से कर क्या सकता हूँ ? जो अमूर्त ज्ञानघन आत्म पदार्थ है, यह मैं कर क्या सकता हूँ, इसका निर्णय करना यथार्थरूप से, सो वह निश्चयनय का विषय है ।

प्रकरण की दृष्टि का आदर—निश्चयनय आत्माश्रित होता है । निश्चयनय के द्वारा पराश्रित समस्त अध्यवसान छुटाये गये हैं, क्योंकि जितने पराश्रित भाव हैं वे बंध के कारण हैं । सो मुमुक्षुओं को अध्यवसान का, रागादिक का त्याग कराने वाले निश्चयनय ने निश्चय से व्यवहारनय का ही प्रतिषेध किया । यहाँ यह प्रकरण केवल निश्चयनय का है । इसलिए केवल निश्चय की ही दृष्टि बनाकर इसको सुनना चाहिए । व्यवहार का निषेध निश्चयनय के द्वारा होता है पर व्यवहारनय न हो यह बात नहीं है । जैसे मंदिर में खड़े होकर विवाह के गीत कोई गाये तो फिट नहीं बैठता, इसी प्रकार निश्चयनय के विषय का जहाँ प्रतिपादन हो और व्यवहारनय की बात को मन में रखे तो फिट नहीं बैठता है । व्यवहारनय के प्रकरण में व्यवहारनय को समझना और निश्चयनय के प्रकरण में निश्चयनय को समझना ।

राग त्याग के उपदेश का निष्कर्ष पराश्रयता का त्याग—क्या आचार्य-संतों का यह उपदेश है कि राग मत करो तो राग न करने का अर्थ क्या निकला ? राग होता है परपदार्थों का आश्रय करके । किसी न किसी परपदार्थ को अपने उपयोग में रखे तो राग हो सकता है । राग मत करो—ऐसा कहने का अर्थ वह हुआ कि किसी भी परपदार्थ का आलम्बन मत करो और व्यवहारनय से जितना होता है वह पराश्रित होता है । जब पर का आश्रय छूटने की बात कहते हैं तो उस स्थिति में यह बात आ गयी कि व्यवहारनय समस्त प्रतिषेध्य

है क्योंकि व्यवहारनय पराश्रित होता है। यहाँ आत्मस्थित होने की बात कही जा रही है।

**आत्मोन्मुखता का संतोष**—देखो जब हम मंदिर में प्रभु की भक्ति करते हैं। तो व्यवहार ही तो वहाँ कर रहे हैं। पूजन पढ़ते हैं, बोलते हैं, भक्ति करते हैं, करना चाहिए इस पदवी में मगर अपने दिल से बतावो कि पूजा के समय में भगवान को भक्ति करते-करते अपने आत्मा की भी दृष्टि कुछ न कुछ कर रहे हैं। तो जो आत्मा की दृष्टि हुआ करती है वह तो हुआ निश्चयनय का विषय और जो भगवान के गुणों का अनुराग बढ़ता है वह है व्यवहारनय का विषय। कहीं निश्चयनय का आलम्बन कम है और व्यवहारनय का अधिक है और कहीं व्यवहारनय का आलम्बन कम है और निश्चयनय का अधिक है। सो यह योग्यता के भेद से है।

**पदानुसार आलम्ब**—गृहस्थजनों को व्यवहार का आलम्बन अधिक है निश्चय का आलम्बन कम है। पर ज्ञानीजनों की दृष्टि निश्चय की ओर रहती है। जो साधु-संतजन हैं वे निष्परिग्रह, निष्कषाय पुरुष हैं, उनके निश्चय का आलम्बन अधिक होता है और व्यवहारनय का आलम्बन कम होता है। तो यह अपनी-अपनी पदवी के अनुसार है। पर तत्त्व की निरख तो सबकी एक समान होती है। साधुजन जानते हैं कि केवल आत्मस्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति होती है और गृहस्थजन भी जानते हैं कि केवल आत्मस्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति होती है। पर गृहस्थजनों का वातावरण चूंकि घर में रहने का है, परिवार के बीच का है, ज्यादा झांझटों का है, धनोपार्जन करना होते हैं, भोजन आदिक आरम्भ होते हैं, तो गृहस्थावस्था में उपयोग उलझने के पचासों साधन हैं। गृहस्थावस्था में ऐसा उपयोग डोलने की स्थिति के बीच में बसने वाले गृहस्थ एकदम निश्चयनय का या शुद्ध का आश्रय करते रहे, ऐसी बात उनके सुगमतया हो नहीं पाती, इस कारण व्यवहारनय का आलम्बन है।

**तत्त्वदर्शक के व्यवहार की साधकता**—गृहस्थजनों के स्वाध्याय, पूजन, सत्संग, दया, दान, परोपकार ये सब आलम्बन हैं, पर ज्ञानी जीव अन्तर में यह समझता है कि जो निज है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का ध्यान ही परम ध्यान है और इस ध्यान से निर्वाण है। जो आत्माश्रित भावों में रहता है वह ही मुक्त होता है। आत्माश्रित भाव है निश्चयनय का विषय। जो निश्चयनय का आश्रय करता है वह ही मुक्त होता है। व्यवहारनय पराश्रित भाव है। अभव्य जीव व्यवहारनय का एकांत से अवलम्बन करता है क्योंकि उसे निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप का परिचय नहीं हुआ है तो पराश्रित व्यवहारनय का एकांतरूप वे आलम्बन करते हैं सो वे अभव्यजन मुक्त नहीं हो पाते हैं।

**पदानुसार नयों की प्रयोजकता**—इसमें यह जानना है कि पहिली पदवी में व्यवहारनय का आलम्बन प्रयोजनवान् है, उससे कुछ मतलब है पर ऊचे दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वभाव में उपयोग जिसका टिक सकता है ऐसे ज्ञानी संत पुरुष को व्यवहारनय प्रयोजनवान् नहीं रहता। जैसे जो सोना अभी मलिन है और उस मलिन सोने का ही जिसको परिचय है उसके उपयोग में यह सब सोना प्रयोजनवान् है और जिसका शुद्ध स्वर्ण से परिचय है उसके लिए अशुद्ध स्वर्ण प्रयोजनवान् नहीं है। तो जैसे-जैसे आत्मा का विकास बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे व्यवहारनय छूटता जाता है। निश्चयनय का दृढ़ अन्यास चलता है और फिर निश्चयनय भी छूट जाता है। व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों से परे कार्य समयसार की अवस्था है।

**अनादिकम—**इस जीव ने अनादि से लेकर अब तक पर-पर का आश्रय ही तो किया, पर्याय को निरखा, कुटुम्ब को देखा, धन वैभव देखा, आहार की गृद्धि रही, पेड़ भी हो गया तो जड़ से तो मिट्टी को अंगेजने की गृद्धता वहाँ भी है। लट, केंचुवे, जोक हो गए तो मिट्टी अथवा जो कुछ भी हो, खाने की गृद्धता उनके भी लगी रहती है। देखो तो सब कीड़ों मकौड़ों का भी उपयोग पर-अपहरण के लिए चल रहा है। इस जीव ने अब तक मात्र पर की दृष्टि कर करके अपने आपको विह्वल बनाया है। मैं भी कुछ हूँ, स्वतंत्र सत् हूँ, ज्ञाता द्रष्टा हूँ—इस प्रकार का परिचय इस जीव को प्राप्त नहीं हुआ और अपने आपके एकत्व स्वभाव के निश्चय में न पहुँचने से कर्मबंध, जन्म मरण नाना क्लेशों का समागम हो रहा है। सो स्वाश्रितपने का अधिक से अधिक यत्न होना चाहिए।

**विविक्तता की दृष्टि में शान्ति—**देखो भैया ! अभी बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि हो तो आकुलता मच जाती है और जब विवेक जगा, और यह ज्ञान में लिया कि मैं तो केवल अकेला ही हूँ, मैं अपने स्वरूपचतुष्टय से सत् हूँ, अन्य द्रव्यों से मेरा सम्बन्ध नहीं है, मेरा किसी अन्य पर अधिकार नहीं है, न मेरा कोई अधिकारी है—इस पद्धति से अपने आपकी ओर अधिकाधिक यत्न होता है तब शांति मिलती है, शुद्धता प्राप्त होती है।

**विभक्तता के निर्णय में विह्वलता का अभाव—निश्चयनय की पद्धति से शान्ति मिलती है,** यह व्यवहार में भी हम और आपको भान होता है। घर में कोई गुजर गया बड़ा इष्ट पुरुष था, अब उसकी बड़ी विह्वलता मच रही है। उसकी विह्वलता को दूर करने के लिए रिश्तेदार लोग उसे मना रहे हैं। तो क्या उससे उसकी विह्वलता मिट सकती है? उसकी विह्वलता तब तक नहीं मिट सकती जब तक उस वियुक्त पुरुष से विभक्त निज आत्मतत्त्व का आभास न हो जाये। सब जुदे हैं, सब अलग हैं, अपने-अपने कर्मों के वश जीव संसार में भ्रमण करते हैं। जन्म-मरण तो लगा ही हुआ है। मेरा तो मात्र मैं ही हूँ, मेरा अधिकार मुझ पर ही है और मेरे में अज्ञान हो तो मेरा अधिकार मुझ पर भी नहीं रहता है। मैं सबसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा निर्णय जब होता है तब उसके वियोग की विह्वलता दूर होती है। नहीं तो वह पर का ही लक्ष्य बना बनाकर दुःखी रहा करता है। यह क्या है ? निश्चय की ही तो झलक है।

**एकत्वनिश्चय में शान्ति—**इष्टवियोग के वातावरण के बीच जितना हम अपने को अकेला तक सकें उतनी तो हमें शांति मिलती है और जितना यह भाव करते हैं कि कोई मेरा कुछ नहीं है, कोई मुझे सुख दुःख नहीं देता। तो कुछ भी बात पर के बारे में विकल्प में आए वहाँ शांति नहीं मिलती है, वहाँ क्लेश बढ़ते हैं। तो जैसे हम अपनी भिन्नता की ओर जायें वैसे ही हमें शांति मिलेगी और जितना पर की ओर लगेंगे उतनी ही अशांति मिलेगी। इसी प्रकार यदि हम परपदार्थों का विकल्प करते रहें तो संसार है और पर का आश्रय छोड़कर केवल निज स्वभाव का आश्रय करें तो मुक्ति के मार्ग का गमन है।

**निश्चय का प्रसाद आत्मदर्शन—**जैसे हम बाह्य वस्तुओं को जानते हैं उनका स्वरूप निरखते हैं, ऐसा ही किसी प्रकार का कुछ क्या मेरा स्वरूप नहीं है ? जैसे बाहरी पदार्थों के रस-रूप को देखने को कमर कसे रहते हैं। इसी तरह अपना भी कुछ स्वरूप है उस स्वरूप को जानने का यत्न करो। यहीं तो निश्चय का आश्रय है। अपने स्वरूप का दर्शन करना सो निश्चयनय है और पर का आश्रय करके रागभाव बनाना सो

व्यवहार है ।

**मध्यस्थिति की उपादेयता की आपेक्षिकता**—जैसे किसी को १०४ डिग्री बुखार है और रह जाये १०१ डिग्री तो वह कहता है अब हम अच्छे हैं, हमारी तबीयत अब ठीक है । पर परमार्थ से उसके अभी तीन डिग्री बुखार है, और जो कुछ भी परिणमन है वह अब भी चल रहा है, लेकिन बड़े बुखार की स्थिति न रहने से १०१ डिग्री में वह अपने को स्वस्थ शांत समझता है । इसी प्रकार पूर्ण स्वस्थ अवस्था तो अत्यन्त विविक्त अवस्था है । शुद्ध केवल ज्ञाता द्रष्टा भाव कर्म कलंकों से रहित आत्मा का चित् परिणमन वह ही एक उत्कृष्ट स्वस्थ निरोग अवस्था है, पर वह अवस्था तो अनादि से है नहीं और रोग अस्वस्थ आदि किन्हीं भी रूपों में पराश्रितता की वेदना अनादिकाल से लग रही है तो ऐसी स्थिति में शुभ व्यवहारनय के प्रवर्तन से अशुभोपयोग की बड़ी वेदनाएँ दूर होती हैं और शांति मिलती है ।

**कल्याणार्थी का लक्ष्य शुद्धोपयोग**—अच्छा बतावो भगवान की भक्ति करते हुए कुछ शांति मिलती है या नहीं मिलती है? मिलती है, पर पूर्ण स्वस्थ जो अवस्था है आत्मा के शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा की स्थिति वह नहीं है पर अशुभोपयोग की वेदना न रहने के कारण शुभोपयोग की स्थिति को उपादेय कहा है । पर वस्तुतः शुभोपयोग में भी पूर्ण स्वच्छ निर्विकार दशा नहीं है । इस कारण उससे भी और परे रहकर अपने आत्मा की ओर आने का उपदेश है । इस प्रकार यह जीव निश्चयनय का आश्रय करके निर्वाण को प्राप्त करता है । जब आत्मध्यान होता है, केवल ज्ञानस्वरूप ही उपयोग में दृष्ट होता है तब उसे शांति प्राप्त होती है ।

**बन्ध और मोक्ष की मूल कुञ्जी**—भैया ! गत गाथावों में यह प्रकरण चल रहा था कि मैं जिलाता हूँ, मारता हूँ, दुःखी, सुखी करता हूँ, ऐसा जो लगाव है, राग है, अव्यवसान है वे सबके सब बंध के कारण हैं । और मोक्ष का कारण तो अपने ज्ञायक स्वरूप को, अपने स्वभाव को जैसा कि वह अपने आपकी सत्ता के कारण है उस रूप में निरखना और 'मैं यह हूँ' ऐसा दर्शन करने के कारण जो पर का आश्रय टूटता है और आत्मा का आश्रय होता है यह है मोक्ष का कारण । ऐसा जानकर हे मुनिजनों ! निश्चयनय में लीन होकर निर्वाण को प्राप्त करो । शुद्ध आत्मद्रव्य का दर्शन करना सो निश्चय का आलम्बन है और अपने आपके सत् से अर्थात् किन्हीं पर सत् का आश्रय करके भाव बनाना सो व्यवहारनय है ।

**निश्चयनय के आश्रय की प्रेरणा**—अथवा व्यवहारों में इतना अन्तर है कि जिस आश्रय से अशुभोपयोग बनता है वह व्यवहार तो सर्वथा त्याज्य है और देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करके जो शुभोपयोग बनता है वह अशुभोपयोग के त्याग के कारण तो उपादेय है किन्तु इससे और आगे भी हम बढ़ते हैं उस दृष्टि की अपेक्षा यह व्यवहार भी त्याज्य है । यों इस प्रकरण में निश्चयनय के आश्रय की आचार्यदेव ने प्रेरणा की है और व्यवहारनय को यद्यपि सविकल्प अवस्थाओं प्रयोजनवश बताया है, उपदेश किया है, तो भी विशुद्ध ज्ञानदर्शन की स्थिति के लिए उसका भी अनाश्रय कहा है ।

इसी प्रकरण को सुनकर फिर शंका होती है कि भव्यजन किस तरह व्यवहारनय का आश्रय करते हैं जिससे कि उनका निर्वाण नहीं होता इसके उत्तर में अब अगली गाथा कहेंगे ।

## गाथा २७३

**वदसमिदीगुत्तीओ सीलतव जिणवरेहिं पण्णतं ।**

**कुब्वंतोवि अभ्वो अणाणी मिच्छदिट्टी दु ॥२७३॥**

अभ्व में भी केवलज्ञान शक्ति का सद्भाव—अभ्व जीव व्यवहारचारित्र का पालन करता तो है परन्तु उसे सत्य दर्शन और ज्ञान नहीं है इसीलिए यह मिथ्यादृष्टि रहता है । अभ्व जीव उसे कहते हैं कि जिसके मोक्ष जाने की शक्ति की व्यक्ति कभी हो नहीं सकती । जितने भी जीव है उन सबमें केवलज्ञान की शक्ति है । अभ्व है उसमें भी केवलज्ञान की शक्ति है । यदि केवलज्ञान की शक्ति न हो तो उनके केवल ज्ञानावरण क्यों होना चाहिये? नहीं होना चाहिए न । केवलज्ञानावरण उसे कहते हैं जो केवलज्ञान के न होने में निमित्त बने । केवलज्ञान की तो शक्ति नहीं है फिर उसके रोकने वाला, आवरण करने वाला केवलज्ञानावरण मानने की क्या जरूरत है । अभ्व जीवों में सम्यग्दर्शन की शक्ति नहीं है तो मनःपर्यज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण या कह लो कि अवधिज्ञान कुमति रूप भी हो तो मनःपर्यय ज्ञानावरण कैसे माना जा सकेगा और दर्शन मोहनीय के कर्म की क्या आवश्यकता है इत्यादि । जैसे पुद्गल है, इनके कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता । तो इस पर तो कर्म नहीं लदा है ।

**अभ्व आत्मा का स्वरूप—**अभ्व जीवों के शुभप्रकृति को छोड़कर जो अत्यन्त शुभ है आहारक शरीर आहारक अङ्गोपाङ्ग और तीर्थकर प्रकृति इनको छोड़कर व सम्यक् प्रकृति, सम्यक् मिथ्यात्व इनको छोड़कर बाकी सभी कर्मप्रकृतियां तो लगी हुई हैं । सो इससे भी क्या सिद्ध होता है ? तो अभ्व जीवों में भी वैसा ही स्वरूप है जैसा भव्य जीव का और सिद्ध प्रभु का है । पर अभ्व जीव के शुद्ध परिणमन होने की शक्ति के व्यक्त होने की शक्ति नहीं है । जैसे जितनी भी स्त्रियां हैं सबके पुत्र पैदा करने की शक्ति है और जिसे बांझ कहते हैं उसमें भी पुत्र पैदा करने की शक्ति है अन्यथा वह स्त्री नहीं कहला सकती । पर पुत्रोत्पत्ति की शक्ति के व्यक्त होने की उसके अन्दर योग्यता नहीं है । तो यों अभ्व जीव शील पाले, तप करे, ब्रत पाले, समिति पाले, गुप्ति धारण करे फिर भी वह अज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि है । उसका चारित्र, व्यवहारचारित्र, अत्यन्त व्यवहाररूप चारित्र सम्बन्ध को न छूता हुआ उसका आचरण है । उसको अपने स्वरूप का अनुभवात्मक परिचय नहीं है ।

**आत्मानुभव का सामर्थ्य—**मैया ! आत्मा के अनुभवन की बड़ी महिमा है । इसके प्रसाद से तुषमाषभिन्नवत् ज्ञाता भी मुक्त हो जाते हैं और इसके अभाव में आगमधर भी मुक्त नहीं हो सकते । ११ अंग १ पूर्व का धारी अभ्व जीव हो सकता है और १ पूर्वों का धारी जो होगा उसका ज्ञानप्रवाद पूर्ण अभ्यस्त हो जाता है । आत्मा के सम्बन्ध में, ज्ञान के सम्बन्ध में जितना कुछ साहित्य है, ज्ञान है, विज्ञान है वह सब पूरा का पूरा ज्ञात है तथा कल्याणबुद्धि से चारित्र का पालन रहता है । दुनिया में अपनी इज्जत बताने के लिए या अपनी पूज्यता मान्यता कराने के लिए वह चारित्र पालता हो, ऐसा नहीं है । चारित्र का पालन वह कल्याण बुद्धि से करना चाहता है । इतने पर भी अभ्व जीवों के सम्यक्त्व सहित ज्ञान न होने के कारण वह अज्ञानी

है और मिथ्यादृष्टि है ।

**अभव्यत्व भाव—भैया !** जो जैसा है उसको वैसा भगवंत ने बताया है । किसी ने अपनी ओर से इन जीवों को छोड़ रखा हो या किसी ने प्रेम कर रखा हो उसे भव्य कहा हो, ऐसा नहीं है किन्तु जो कभी मोक्ष न जा सकेगा और जिसके सम्यक्त्व प्रकट करने की योग्यता ही न हो सकेगी ऐसी पर्याय वाले जीवों को अभव्य कहा है और ऐसा होता है, निमित्त भी बहुत जुटते हैं अभव्य जीवों को । इससे बढ़कर और क्या निमित्त होगा कि—११ अंग ९ पूर्वों का जिनसूत्र पूर्ण विदित बाह्य होता है । सम्यक्त्व का कारण नियमसार में जिनसूत्र बताया है । वह ११ अंग ९ पूर्व तक अधिकार पूर्ण ज्ञात रहता है । ११ अंग ९ पूर्व का ज्ञान कम ज्ञान नहीं होता है, पर अभव्य को स्वरूप का परिचय नहीं हो पाता । कहां उलझा है ? कैसी उलझान है कि कल्याण बुद्धि भी है, मित्र और शत्रु में समान बुद्धि भी है । कोई चाहे गाली दे तो उसमें भी क्षोभ नहीं लाता । प्रशंसा और निन्दा उसको समान है, धन और कांच बराबर हैं, फिर भी अपने परिणमन में ऐसी कर्तृत्व बुद्धि अटकी है कि वह अनुभव नहीं कर सकता ।

**अभव्य की पर्यायबुद्धता—**शील, तप, गुस्ति, समिति, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-त्याग आदि सभी व्रतों को अभव्य जीव धारण करता है । इतने पर भी निश्चयचारित्र के कारणभूत जो ज्ञान और श्रद्धान हैं वह इसके नहीं है । इसी कारण यह जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है । देखो आत्मा की नैसर्गिक महिमा कि गाय, बैल, घोड़ा, पक्षी कहीं बैठा हो, मुंह चलाता हुआ भी हो, कहो सम्यक्त्व की झलक पा जाये और अभव्य जीव दुर्धर तपस्या करता हुआ भी तप का निर्वाध पालन करता हुआ भी सम्यक्त्व को नहीं पाता । सरलता बनाने से नहीं होती, स्वाधीनता तैयारी से याने बनावट से क्या होगी ? पुरुषार्थ सब करते हैं पर जिसको निसर्गतः होना है सो होता है ।

**पर्याय की अटक—**इस प्रकरण में इस बात को बताने का प्रयोजन यह है कि अभव्य जीव पर का आश्रय नहीं छोड़ते अर्थात् व्यवहारनय के एकांत की पकड़ रखते हैं, उन अध्यवसानों का प्रतिकार नहीं करते हैं । इस कारण यह जीव अज्ञानी है, मोक्ष का पात्र नहीं होता । इस अभव्य जीव के जो इतनी बड़ी समता प्रकट हुई है कि कोल्हू में पिल जाने पर भी शत्रु पर द्वेष नहीं करता ऐसी अन्तरंग में कल्याणबुद्धि जगी है । फिर भी इस जीव के ऐसी पर्याय की अटक है पर तत्त्व का आश्रय करने की प्रकृति है कि यह जीव निश्चय चारित्र से शून्य रहता है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रहता है । कितनी कषाय मंद है कि शत्रु को शत्रु नहीं मानता, अन्तर में क्रोध का प्रसंग नहीं होता और मिथ्यात्व भी मंद है, वह देव, शास्त्र, गुरु की उपासना में रहता है अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भी, परन्तु देव, शास्त्र, गुरु में मर्म क्या है? ऐसा मर्मभूत सहजस्वरूप का परिचय नहीं हो पाता ।

**भावपरिणमन में अटक—**अभव्य मुनि भी कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु की सेवा नहीं करते, २८ मूलगुणों में भी अतिचार नहीं करते, भले ही वे सम्यक्त्व सहित नहीं हैं पर प्रवृत्ति में जो कुछ करना चाहिए वे सब करते हैं । ज्ञान उनका ११ अंग ९ पूर्व तक का हो जाता है । समतापरिणाम भी उसके महान् होता है, फिर भी उन सूक्ष्म परिणमनों में अटक जाने रूप झीने पर्दे को तोड़कर कुछ अन्तर में प्रवेश नहीं कर पाता । उसका और

विश्लेषण किया नहीं जा सकता पर यह कैसे हो गया कि उसे अपने किसी सूक्ष्म परिणमन में अटक है। जो केवल निश्चय का एकांत कर रहे हैं या जो केवल व्यवहार का एकांत कर रहे हैं वे अभव्य हों, ऐसा नहीं है। भव्य भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। यहाँ यह बतला रहे हैं कि अपने सहजस्वरूप का परिचय न हो सकने के कारण अभव्य जीव ईमानदारी सहित कल्याण बुद्धि से ऐसे चारित्र को अंगीकार करते हैं तिस पर भी पर्याय की अटक न छूट सकने से वह मोक्ष का पात्र नहीं होता।

**भव्यजीवों की बहुलता—अभव्य जीव जगत् में बहुत कम है।** हैं तो अनन्त, पर भव्य जीवों के अनन्तवे भाग प्रमाण है और यों समझिये कि क्या लाखों जीव में एक जीव अभव्य होगा? इतनी भी संख्या नहीं बैठती। तो क्या करोड़ में एक अभव्य होगा? इतना भी अनुपात नहीं बैठता। तो क्या शंख महाशंख में एक अभव्य होगा? इतना भी अनुपात नहीं बैठता। अनन्त जीवों में एक अभव्य होगा। अभव्य जीव भव्य जीव के अनन्तभाग प्रमाण है। भव्य भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। वर्तमान में इसके मिथ्यादृष्टित्व है। जिसको वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिचय नहीं है, चाहे किसी एकांत के आशय का हो मिथ्यादृष्टि है। वस्तु अनेकांतात्मक है। आत्मदर्शन की स्थितियों में यह जीव पहिले अनेकांत का निर्णय करता है और उसके चारित्र का यह यत्न होता है कि वह व्यवहारनय का आलम्बन कम करे और निश्चयनय का आलम्बन अधिक करे। यह स्थिति उसकी बढ़ती रहती है।

**पदवी के अनुसार नयावलम्बन—भैया!** जिस पदवी में व्यवहारनय का आलम्बन प्रयोजनवान् है वहाँ व्यवहार का आलम्बन अधिक है, निश्चय का आलम्बन कम है, पर जैसे-जैसे उसका विकास होता है वैसे-वैसे अंतरङ्ग और बाह्य परिस्थिति निर्मल होती जाती है, व्यवहार का आलम्बन कम होता है, निश्चय का आलम्बन अधिक होता है और कोई ऐसी स्थिति अंत में होती है कि पदार्थों के नाते तो निश्चय व्यवहारात्मकता रहती है सो तो सत्य ही है, पर उपयोग के नाते व्यवहारनय का आलम्बन छूट जाता है और निश्चयनय का आलम्बन रहता है। फिर कुछ समय बाद उपयोग के नाते निश्चय का आलम्बन छूट जाता है और सर्व विकल्पों से परे होकर वह अपने आपमें एक शुद्धपरिणमन से ही अपने आपसे परिणमता रहता।

**शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का आलम्बन—गृहस्थजनों की परिस्थिति में व्यवहारनय का आलम्बन प्रयोजनवान् अधिक है।** पर निश्चय का परिचय ही नहीं करें और वस्तु का सहज स्वरूप क्या है? इसका ज्ञान ही नहीं करना चाहे तो यह उनकी एक त्रुटि है। तो देखिए जिसके अशुभोपयोग की स्थितियां अधिक हैं ऐसे जीवों को अशुभोपयोग काटने के लिए शुभोपयोग का आलम्बन बताया है। पर मोक्ष के अर्थों पुरुषों को शुभोपयोग में रहकर भी शुद्धोपयोग की जानकारी रहना आवश्यक बताया है। इस प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि सभी कहते हैं कि रागद्वेष छोड़ो। रागद्वेष होता है पर का आश्रय करके। तो उसका अर्थ यह हुआ कि पर का आश्रय छोड़ो और जहाँ पर का आश्रय छूटता है वहाँ रहता है आत्मा का आश्रय। तो इसका अर्थ यह है कि अपने स्वरूप का आश्रय करो। काम तो यह एक ही है। अब जैसी-जैसी पदवी में, जैसी-जैसी परिस्थिति में जैसा जो कुछ करते बने सो करो, पर दृष्टि रखो अपने शुद्ध आत्मा की।

अभव्य जीव शील, तप, ब्रत, समिति गुमियों का पालन करता हुआ भी अज्ञानी बताया गया है। ऐसी

बात सुनकर एक जिज्ञासु प्रश्न करता है कि चलो तपस्या करते हुए भी अज्ञानी है वह, तो रहो, किन्तु किसी-किसी अभव्य जीव के तो ११ अंगों का ज्ञान पाया जाता है, फिर उसे अज्ञानी क्यों कहा ? इसके उत्तर में कहते हैं—

## गाथा २७४

**मोक्खं असद्दहंतो अभियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।**

**पाठे ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥**

ज्ञानपाठी अभव्य के भी अज्ञानीपना—जो मोक्ष की श्रद्धा नहीं करते हैं। ऐसे अभव्य जीव जो कुछ भी अध्ययन करते हैं वह पाठ मात्र का अध्ययन है। किन्तु आत्मगुण की श्रद्धा न करते हुए जो भी अभव्य का अध्ययन है वह लाभ नहीं देता। अपने आपके आत्मा का गुण है ज्ञान। ज्ञान का स्वरूप क्या है ? उसे इस ज्ञान के स्वरूप का परिचय नहीं होता। यह ज्ञानस्वरूप एक प्रतिभास मात्र है। सर्व पदार्थ इसमें झालक जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ के ज्ञानन के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प उसमें नहीं पाया जाता है। ज्ञान का ऐसा उत्कृष्ट निर्लेप प्रतिभासमात्र स्वरूप है और वही मैं हूँ, इस प्रकार का स्व लक्ष्य में नहीं रहता है और जो कुछ भी उसकी चतुराई है, ज्ञानकारी है उसमें यह ज्ञानता रहता है कि मैं ज्ञानता हूँ। मैं उत्तम पालन करता हूँ, इस प्रकार की दृष्टि रहती है। इस कारण यह अभव्य जीव अधिक ज्ञान करके भी अज्ञानी है।

ज्ञानी की मौलिक निर्मोहता—मैया ! ज्ञानी जीव को इस ज्ञान से भी मोह नहीं होता। ज्ञानी होता हुआ भी ज्ञान परिणमन में वह लगाव नहीं रखता, तो भले ही अभव्य जीव शास्त्रों का पाठ पढ़ता है, पर मोक्षतत्त्व की श्रद्धा न करते हुए अथवा ज्ञान का श्रद्धान न करने वाले इस अभव्यजीव का वह शास्त्र का पढ़ना लाभदायक नहीं होता। उसके द्वादशांग का अध्ययन द्वादशांग तो पूरा नहीं है, ११ अंग और ९ पूर्वों का उसके यह अध्ययन ख्याति, पूजा, लाभ के निमित्त है, अथवा न भी हो ख्याति पूजा लाभ का उद्देश्य, फिर भी अपने आपका जो परिणमन है उस परिणमन में आत्मस्वरूप का लगाव है कि यह मैं हूँ। आत्मा सदा किसी एक परिणमनरूप नहीं है तो न सही पर सदा काल के लिए किसी परिणमनरूप रहता है। परिणमन उसका वस्तुतः है पर परिणमन मात्र तो द्रव्य नहीं है। पर यह अभव्य जीव अपना जो कुछ भी परिणमन है उसे उस परिणमनरूप अपने आपकी प्रतीति है। इस कारण यह जीव अज्ञानी रहता है।

अभव्य का उपदेश मार्मिक किन्तु तोता रटंत—क्या आगमधर अभव्य जीव उपदेश देते समय यह बात नहीं बताता होगा कि परिणमन में आत्मबुद्धि न रखना—कहता होगा। प्रभाव और जोर के साथ बताता होगा पर उस अभव्यजीव के स्वयं अपने परिणमन में आत्मप्रतीति नहीं मिटती। जैसे कोई तोता हो—सुवा बत्तीसी में बताया है कि वह पढ़ने लगा कि नलनी पर मत बैठना। बैठना तो दाने चुगने का यत्न न करना। दाने चुगना भी तो उलट न जाना और उलट जाना तो उसे छोड़कर भाग जाना। इतना उसने सीखा तो केवल सीखा भर है वह मौका पाकर पिंजड़े से उड़ जाता है और उस नलनी पर बैठ जाता है। नलनी पर बैठा हुआ तोता पढ़ता जाता है कि लटक भी जाना और दाने चुगता जाता है। लटक गया और लटककर भी

यह पढ़ता जाता है कि लटक भी जाना तो उसे छोड़कर भाग जाना । पर उस तोते के भागने की प्रतीति नहीं है । सो वह उसी में लटका रहता है । तो इसी प्रकार अन्य का भी वह सब ज्ञान तोता रटंत है ।

**अभ्य के आत्मा के साक्षात्कार का अभाव—अभ्य जीव अधिक ज्ञान भी कर लेते हैं। और आत्मा के स्वरूप का बड़ा सूक्ष्म वर्णन भी करते हैं, यह सब विविक्त है । इसके सम्बन्ध में जो विचार बने, जो परिणमन बने, उन परिणमनों से भी विविक्त है, सो ऐसे शुद्ध आत्मा की चर्चा भी की जाती है, पर स्वयं का लक्ष्य परिणमन से विविक्त स्वभाव की ज्ञानस्वरूप चर्चा का नहीं है, परभाव से विविक्त शुद्ध ज्ञान प्रतिभास मात्र अपने को लक्ष्य में नहीं लेता है । इस कारण ज्ञान की श्रद्धा न होने से, कैवल्यस्वरूप की प्रतीति न होने से इस जीव के ११ अंगों के अध्ययन से भी लाभ नहीं है । अभ्य जीव प्रथम तो मोक्ष की श्रद्धा ही नहीं करते हैं, लेकिन लगे हैं व्रत और तप में । इससे कोई बड़ा अद्भुत सुख होता है । मोक्ष मिलता है, मात्र इतनी बात सुनकर ज्ञान में लग गए, तप में लग गए, पर मोक्षस्वरूप क्या है, किस विविक्त कैवल्य अवस्था का नाम मोक्ष है ? इसकी श्रद्धा नहीं है क्योंकि उन्हें शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान नहीं है । अपने आत्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं है ।**

**साक्षात्अनुभव की प्रतीति का एक दृष्टान्त—जैसे बाहुबली स्वामी की जो श्रवण बेलगोल में मूर्ति है, दसों भाइयों से सुन लिया और ज्ञान भी कर लिया कि पैर इतने फिट लम्बे है, हाथ इतने फिट लम्बे दै, मूर्ति इतने फिट लम्बी है, उसके आकार प्रकार का भी ज्ञान कर लिया । तो वह वर्णन इतना कर सकता है जितना कि मूर्ति के देखने वाले नहीं कर सकते हैं । जो दर्शन कर आए हैं उनसे ही पूछ लो कि भाई बतलावों उनके हाथ की छोटी अंगुली कितने फिट लम्बी है ? तो यह बात वे नहीं बता सकते दर्शन कर चुकने वाले और एक यहाँ का रहने वाला, जितने साहित्य में लिखा हुआ देख लिया है, पढ़ लिया है, वह बता सकता है कि उनके हाथ इतने लम्बे हैं, पैर इतने लम्बे हैं । भले ही वह पुरुष बता दे साहित्य की जानकारी से या लोगों की बातें सुनने से, पर वही पुरुष बाहुबलि स्वामी की मूर्ति के साक्षात् दर्शन कर ले श्रवण बेलगोल में जाकर, तो जो प्रतीति उसको दर्शन में होगी यह प्रतीति उसके उस ज्ञान में नहीं है । इसी तरह से अभ्यजीव के ज्ञान बहुत है, ११ अंग का ज्ञान है, कम ज्ञान नहीं है, लेकिन उसे आत्मदर्शन न होने से सम्यग्ज्ञान नहीं होता ।**

**अभ्य के श्रुत के अध्ययन के लाभ का अलाभ—जैसा अभ्यज्ञानी जानता है, जैसा वह बताता है तैसा उसको स्वयं का साक्षात्कार नहीं होता, अनुभवन नहीं होता । ऐसी बात अभ्य भी बोलता है पर उसका अनुभव नहीं होता तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान न होने से यह अभ्य जीव ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता, उसके ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं है तो आचाराङ्गादि ११ अंगरूप श्रुत का अध्ययन करके भी श्रुत का अध्ययन करने के गुण का अभाव होने से वह पुरुष ज्ञानी नहीं होता । श्रुत के अध्ययन से लाभ क्या था कि सर्व परभावों से, परपदार्थों से विविक्त ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान कर लेना यह था श्रुत के अध्ययन का लाभ किन्तु यह लाभ तो दूर हो, वह विविक्त आत्मवस्तु के भेदज्ञान की श्रद्धा भी नहीं करता, तो श्रुत के अध्ययन से उसने लाभ क्या निकाला ? भले ही इतना विशाल ज्ञान पाया है, पर अपने आपमें वह**

अनुभव नहीं जगा, शांति और संतोष नहीं हुआ तो ज्ञान और श्रद्धान के भाव से वह जीव अज्ञानी ही है—ऐसा निश्चित होता है।

आत्मानुभव की कल्याणरूपता—भैया! वह पुरुष धन्य है, पूज्य है जिसको शुद्ध भावों से अपने आपके सहज स्वभाव का अनुभव हुआ है। आत्मानुभवी पुरुष इस जगत् के विजेता होते हैं। शास्त्रों का अध्ययन है उसे पर शास्त्रों के अध्ययन से लाभ तब है जब शुद्ध आत्मा का परिज्ञान हो जाये। वह इसके नहीं होता है। यह शुद्ध आत्मा की उपलब्धि तो निर्विकल्प परसमाधि के द्वारा होती है। शुद्ध आत्मा का सम्यक्श्रद्धान करना, ज्ञान करना और ऐसे ही अपने आपमें ज्ञान द्वारा अनुभवन करना, ऐसी स्थिति जब तक नहीं प्राप्त होती है तब तक शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्राप्त नहीं होता। अपने कल्याण में कारण श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण है। तीनों में एक साथ बल चलता है तब कल्याण होता है।

भैया ! केवल वार्ता करने से कल्याण नहीं है, किन्तु जिस परमात्मतत्त्व के सम्बन्ध में हम ज्ञान करते हैं, श्रद्धान करते हैं, उस ही रूप हम अपने में अन्तर से आचरण करने लगें तो इस सम्यक्तत्व ज्ञान आचरण की जो एकता है वही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। केवल श्रद्धान से काम नहीं चलता, मात्र आचरण से भी काम नहीं चलता।

दृष्टान्तपूर्वक श्रद्धान, ज्ञान व आचरण के त्रितय की उपयोगिता—जैसे कोई रोगी वैद्य पर श्रद्धान न करे तो प्रथम तो वह दवा खायेगा ही नहीं। यदि संदेह करके खायेगा तो न जाने कैसा अलौकिक सम्बन्ध है इस आत्मा के परिणामों का और शरीर के स्वास्थ्य का भी; वहां उसको लाभ नहीं होता है और श्रद्धान भी हो जाये कि यह वैद्यराज अच्छे हैं और ज्ञान भी हो जाये कि यह दवा इस प्रकार की जायेगी, पर न पिये तो कैसे लाभ होगा और श्रद्धान भी करे कि ये वैद्यजी अच्छे हैं, इनकी दवा से लाभ होगा और उसका ज्ञान नहीं है कि किस समय खानी चाहिए, कितनी मात्रा में कौन-सी चीज मिलानी चाहिए, तो उससे लाभ नहीं होता है। पर किसी के साथ लगा हुआ है विपरीतरूप और किसी के साथ लगा हुआ है यथार्थरूप और कोई जीव ऐसा नहीं है जो श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से विपरीत हो। इसी प्रकार जिसको मोक्ष की श्रद्धा नहीं है, ज्ञान स्वरूप आत्मा की श्रद्धा नहीं है उस जीव को एकादशांग का ज्ञान हो जाने पर भी मोक्ष नहीं होता है, बंधन में रहता है।

नयों का प्रयोजन—अभव्य का कल्याण परिणाम न होने में निमित्त क्या है ? दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इनका उपशम क्षय और क्षयोपशमरूप निमित्त नहीं प्राप्त हुआ। देखिए—परिपूर्ण ज्ञान यह है कि जहाँ यह भी विदित होता रहे कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, अपने ही परिणमन से परिणमता है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का पर में अत्यन्तभाव है, यह भी विदित हो। यह भी विदित हो कि योग्य अर्थात् अयोग्य, अशुद्ध उपादान परउपाधि का निमित्त पाकर अपने विकाररूप परिणम रहे हैं। कोई-सा भी विकार किसी परउपाधि का निमित्त पाये बिना नहीं होता। इन दोनों दृष्टियों में आत्मस्वभाव के परिज्ञान की बात कही गयी है।

ज्ञानी के नयों के प्रयोजन की एकता—भैया ! वहाँ दो प्रयोजन नहीं हैं। जो जीव ऐसी श्रद्धा करता है

कि प्रत्येक पदार्थ अपना सत्त्व रख रहे हैं और अपने परिणमन स्वभाव से परिणमते हैं उसका भी प्रयोजन आत्मस्वभाव की दृष्टि करना है और जो जन निमित्त मुख से वर्णन करते हैं कि जितने भी विकार कर्म हैं वे पर-उपाधि का निमित्त पाकर होते हैं, इसमें भी वही मर्म पड़ा हुआ है। प्रयोजन में विकार जितने हैं वे उपाधि का निमित्त पाकर होते हैं। अतः वे आत्मस्वभाव नहीं हैं। आत्मा का स्वभाव तो केवल एक चैतन्यस्वरूप है। उस व्यवहार के वर्णन में भी स्वभाव की उपाधि का यत्न है, जिसका प्रयोजन एक हो जाना है वह पुरुष किसी परिज्ञान और यत्न में थोड़ी भिन्नता भी रखता हो तो भी यह चूंकि मूल प्रयोजन एक होने से उन जीवों में वात्सल्य और मैत्री रखता है। प्रयोजन एक हुआ। वहां परस्पर में विवाद नहीं होता।

प्रयोजन की एकता में कलह के अभाव का दृष्टान्त—घर में लोग रहते हैं परिवारजन, ५-७ आदमी, उन सबका प्रयोजन एक है, घर बसे, घर रहे, कुल चले और आराम से जीवन चले। सबका एक उद्देश्य है, इस उद्देश्य का विरोधी उन घर वालों में से कोई नहीं है। तो देखो घर में छोटी-छोटी बातों पर थोड़ी लड़ाई भी हो जाये, कलह भी हो जाये, फिर भी घर में बसते और मूल प्रयोजन में कोई बाधा नहीं डालते। तो इसी तरह एक धर्मगृह में जितने भी साधर्मीजन हैं ये सब परिवार हैं। आपके ईंट वाले मकान में ५-६ परिवार के लोग होंगे, पर इस धर्ममहल में बसने वाले हजारों लाखों पुरुष, स्त्री, बालक, बालिकाएं जितने भी हैं साधर्मीजन वे सब एक परिवार में शामिल हैं। इन साधर्मी परिवार सदस्यों का सबका एक प्रयोजन होता है कि मुझे आत्मस्वभाव का परिचय करना है। अपने सहजस्वरूप की प्राप्ति करनी है।

आलम्बनभेद होने पर भी प्रयोजन की एकता में यथार्थता—उनके आलम्बन में भिन्नता होती रहे, यह तो अपनी-अपनी पदवी की बात है। किसी के व्यवहारनय का आलम्बन अधिक है, निश्चयनय का आलम्बन कम है किन्तु उससे पूछो कि तुम्हारे अंतरंग की भावना क्या है? तुम क्या चाहते हो? और उसका उत्तर यदि यह मिले कि मुझे कैवल्य स्वरूप चाहिए, तो वह ठीक चल रहा है। किसी के व्यवहारनय का आलम्बन कम है, निश्चयनय का आलम्बन अधिक है और उसका भी प्रयोजन आत्मस्वभाव की प्राप्ति है, कैवल्य की उपलब्धि है तो वह भी सही है। जिसके मूल प्रयोजन में बाधा हो उसके निश्चयनय का पालन भी अयथार्थ है और व्यवहारनय का पालन भी अयथार्थ है। प्रयोजन एक होने पर फिर यह व्यवहारनय और निश्चयनय ये दोनों कार्यकारी होते हैं।

अभव्य की हीनता—अभव्य जीव को ऐसी कौन-सी कर्मी हो गयी कि ११ अंग और ९ पूर्व का ज्ञान भी हो गया, इतने पर भी वह मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता। उसे ज्ञानमय आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती है। हम आप सब भी जितने समय मंदिर में भगवान के दर्शन करते हैं, मूर्ति के समक्ष ध्यान करते हैं उतने समय तक अपने परिणामों में भगवान के अनन्त चतुष्टय की महिमा को जानने की परिणति होती है और आपने मानो १० मिनट तक भक्ति की तो उसके बीच में कभी-कभी अपने आपके उस ज्ञानशक्ति की प्रतीति भी होती है कि नहीं? होती है।

भगवान की विशुद्धभक्ति—भगवान की शुद्ध भक्ति वह है कि भगवान के गुणों का यथार्थ परिज्ञान चले। अनुराग चले, वात्सल्य चले और क्षण-क्षण में अपने आपके शक्ति की प्रतीति बढ़ती जाये। मैं प्रभु भी ऐसा

हो सकता हूं। ऐसी अपने अन्तर में प्रतीति भी बढ़ती जाये, वह है भगवान की शुद्ध भक्ति और अपने आपकी प्रतीति बिना जो चलता है वह कभी घर की उन्नति के लिए, कभी प्रतिष्ठा की उन्नति के लिए, कभी सुख की उन्नति के लिए चलता है। तो शुद्ध दृष्टि रखना प्रत्येक कल्याणार्थी का प्रथम कर्तव्य है। भगवान की भक्ति करते हुए भी हम शुद्ध प्रयोजन रखें। मुझे कल्याण करना है, इस दृष्टि से भगवद् भक्ति करें, धन की पूर्ति के उद्देश्य से न करें।

**आत्मा का कृत्य**—ये अभव्य जीव इतना महान् ज्ञान करके भी अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं करते हैं। ज्ञान प्रतीति के लिए अपने ज्ञान के अभ्यास की आवश्यकता है। इन कर्मों के काटने की शक्ति हमारे श्रद्धान्, ज्ञान, आचरण में है। अपना श्रद्धान्, ज्ञान, आचरण यथार्थ बनाएँ इतना तक तो मेरा काम है। फिर कर्म कैसे न करेंगे? कर्म बंधन होता है रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर और इन कर्मों का कटना आत्मा के रत्नत्रय परिणामों का निमित्त पाकर होता है।

**स्वरूप-स्वातन्त्र्य का लक्ष्य**—भैया! ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव का सम्बन्ध जानते हुए भी यह देखना आवश्यक है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणति से ही परिणमता है, किसी का चतुष्टय किसी अन्य में नहीं पहुंचता है। यह ज्ञानी का बड़ा बल है कि निश्चय और व्यवहार दोनों का यथार्थस्वरूप दृष्टि में बना रहे। तो इस गाथा में यह बताया गया है कि जिसके दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय निमित्त है और अपने आपके स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो रही है, ऐसा अभव्य जीव ११ अंग का ज्ञान भी कर ले तो भी उसको आत्मलाभ नहीं हो पाता है।

सबसे पहिले बताया था कि अभव्य जीव ब्रत समिति गुप्ति आदिक का पालन करके व्यवहारनय का आश्रय करता है, फिर भी इसके आत्मपरिचय नहीं है इस कारण अज्ञानी है। उसके मोक्ष नहीं होता, इस बात पर फिर कहा था कि चलो उसे नहीं है ज्ञान, अतः मोक्ष नहीं जा पाता, पर किसी अभव्य के तो ११ अंग ९ पूर्व तक का ज्ञान भी हो पाता है फिर उसके क्यों मोक्ष नहीं हो पाता है? तो उसके उत्तर में भी कहा था कि श्रुत के अध्ययन का फल तो है आत्मा का साक्षात्कार होना, सो यह तो हो नहीं पाता इस कारण श्रुत के अध्ययन का लाभ भी नहीं होता। अब यह कह रहे हैं कि वाह उसे केवल दर्शन तो है फिर क्यों अभव्य जीव को मिथ्यामार्गी बताया है? उसके उत्तर में आज कह रहे हैं।

## गाथा २७५

सद्हदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।

धर्मं भोगणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

अभव्य के धर्म के वास्तविक श्रद्धान का अभाव—अभव्य जीव नित्य ही यद्यपि धर्म का श्रद्धान करता है,

ज्ञान करता है, रुचि करता है और बार-बार उसका पालन करता है पर वह भोग के निमित्त करता है । कर्मों के क्षय के निमित्त नहीं करता है । अभ्य जीव ज्ञान चेतनामात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं कर पाता । कर्म चेतना और कर्मफल चेतना रूप वस्तु का श्रद्धान तो करता है, पर ज्ञान चेतना मात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं करता, क्योंकि उसके भेदविज्ञान की पात्रता नहीं है । मैं आत्मा सर्व परद्रव्यों से विविक्त हूं, केवल ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अपने आपके स्वभाव का परिचय नहीं होता है तो वह अभ्य जीव यथार्थ धर्म का श्रद्धान नहीं कर पाता, किन्तु किसी शुभपरिणामरूप शांति को ही श्रद्धान में लेता है, उसकी ही रुचि करता है, उसका ही आचरण करता है ।

**अभ्य के भूतार्थधर्म का अभाव—भूतार्थ धर्म अर्थात् परमार्थ धर्म जिसके प्रताप से मुक्ति अवश्य होती है वह धर्म है ज्ञानमात्र अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप अपने आपकी श्रद्धा करना, उस ज्ञानस्वरूप की बार-बार भावना करना और ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप उपाय के द्वारा उस ज्ञानस्वभाव का आचरण करना, यही है भूतार्थ धर्म, यह नहीं हो पाता है उसे । इसकी श्रद्धा अभ्यजीव को नहीं, किन्तु जो शुभ कर्म है उनकी ही मात्र श्रद्धा होती है । शुभकर्म तो भोग निमित्त है, कर्म बंध के कारण है और उनके फल नाना प्रकार के भावों का अज्ञान प्राप्त होना **या अलौकिक आत्मा के दर्शन प्राप्त होना** यह है । तो ऐसे शुभकर्म मात्र की श्रद्धा करते हैं और इससे परे कोई शुद्ध आत्मा का स्वभाव है, कोई सहज स्वरूप है, इसकी श्रद्धा नहीं हो पाती है ।**

**अभ्य की आगमफल की अपात्रता—यहाँ उत्तर दिया जा रहा है इस प्रश्न का कि जिज्ञासु ने पूछा था कि तुम अभ्य जीवों के पीछे बहुत-बहुत पड़ रहे हो, वे व्रतादिक का पालन भी करते हैं फिर भी कहते हो कि वे अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं । तो चलो मान लिया कि ये बाह्य चीजें हैं व्रत, तप वगैरह, पर अंतरंग में तो ज्ञान भी बहुत है । आगमज्ञ है अभ्यजीव, फिर उसे अज्ञानी क्यों कहा जाता है ? सो उसके उत्तर में यह बताया था कि वे आगम का बोझ तो लादते हैं पर उस आगम का फल है अपने आत्मा के सहजस्वरूप का अनुभव कर लेना । यह उसके होता नहीं, इस कारण वह ज्ञानी नहीं है ।**

**अभ्य की भोगनिमित्त अधर्म की श्रद्धा—कहते हैं कि कैसे-कैसे श्रुत का तो अध्ययन करता है और उसको अन्तरमर्म विदित नहीं है, उसे तो आत्मा की श्रद्धा है । फिर क्यों अज्ञानी कहा गया है उसको तो यहाँ यह कहा जा रहा है कि अभ्य जीव को धर्म की श्रद्धा तो होती है परन्तु वह भोग के निमित्त होती है, कर्मक्षय के निमित्त रूप धर्म की श्रद्धा नहीं होती है । इस ही कारण यह अभ्य जीव भूतार्थ धर्म का श्रद्धान करने से, शुभ कर्म मात्र को धर्मरूप का ज्ञान करने से और उस शुभ क्रिया मात्र से ही धर्मरूप मानकर आचरण करने से और उसकी ही बारबार भावना और वृत्ति करने से यह अभ्य जीव उपरिम ग्रैवेयक तक भी पहुंच जाये, उस पद को भी धारण कर ले तो भी वह कभी छूट नहीं सकता । यह सब एक नैसर्गिक देन है, अर्थात् अभ्य जीव कितने सारे काम कर लेता है ? ज्ञान भी सीखता है, वक्ता भी बहुत हो जाता है, व्रत, तप भी कर लेता है, सब कुछ करके भी कोई वजह तो है ऐसी कि जिसके कारण उसे अभ्य कहा और वह कभी सम्यक्त्व का भी श्रद्धान नहीं कर पाता । वह वजह है । ऐसा ही कर्म प्रकृतियों का निमित्त पाकर उसके उपादान में अयोग्यता वर्तती रहती है, नहीं जाती है दृष्टि अपने सहजस्वभाव पर ।**

भूतार्थ व अभूतार्थ धर्म के आश्रय का फल—इसके भूतार्थ धर्म का श्रद्धान न होने से श्रद्धान भी वास्तविक नहीं है। यह प्रकरण कुछ पहिले यह चल रहा था कि निश्चय की दृष्टि में व्यवहारनय का प्रतिषेध होना मुक्त ही है। इस प्रकार से यहाँ यह सिद्ध किया गया कि चूंकि इस अभव्य जीव को अखण्ड आत्मस्वभाव का परिचय नहीं हो पाता, इस कारण उसका व्यवहार कार्यकारी नहीं होता, सफल नहीं होता और जिस ज्ञानी जीव के इस अखण्ड स्वभाव का परिचय होता है, वह व्यवहार मार्ग में रहकर उस अखण्ड स्वभाव के श्रद्धान के बल से, रुचि के प्रताप से ऊपर चढ़कर सर्व कर्मों से मुक्त होकर अपने सिद्धपद का अनुभव कर पाता है। यह अभव्य जीव अपने धर्मादिक का श्रद्धान नहीं करता है और न ज्ञानरूप के द्वारा उसका परिच्छेदन करता है, न प्रतीति करता है और न विशेष श्रद्धान रूप से उसकी रुचि करता है और ऐसे ही अपना अनुष्ठान भी नहीं करता है।

अन्तर ज्ञायकस्वरूप की रुचि—अभव्य जीव व्रत, तप किया करता है, पर वह पुण्यरूप धर्म अहमिन्द्रादिक पदवी के कारण रूप को अधिक आकांक्षा रूप से करता है। वह मोक्षतत्त्व की चर्चा तो करता है किन्तु भीतर में उस वीतराग ज्ञायकस्वरूप का परिचय नहीं हो पाता, न उसकी रुचि होती, किन्तु जो वर्तमान विशुद्ध परिणमन है उस विशुद्ध परिणमन से ही संतोष हो जाता है और उसको ही कर्मक्षय का निमित्त मानता है और उससे होने वाली एक आकुलता की कमी रूप आकुलता को मानकर अपने को कृतार्थ समझ लेता है, वीतराग, निर्विकल्प परमसमाधि का उद्योग नहीं होता है, सो उस आत्मा का संवेदन करना यही है निश्चयधर्म और है वह कर्मक्षय का कारणभूत। उसकी उसे श्रद्धा नहीं होती हैं। कल्याण के लिए यह बात सुनिश्चित है कि आत्मा का जो अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभाव है उसकी दृष्टि होना और उसमें दृढ़ता से रहना, परन्तु इस ही को चाहने वाले सभी प्रकार के ज्ञानी जीव हैं।

ज्ञानियों की मूलरुचि की समानता—जिनको विषयकषायों के भाव पीड़ित करते हैं ऐसे कर्मविपाक में बसा हुआ वह सम्यग्दृष्टि जीव इस आत्मा के निराकुल अखण्ड स्वभाव की रुचि करता है और देश संयमभावी श्रावकजन भी इस अखण्ड ज्ञान स्वभाव की रुचि करते हैं और श्रावकजन भी इस अखण्ड ज्ञानस्वभाव की रुचि करते हैं पर जो जिस परिस्थिति में है उस परिस्थिति के अनुसार उसकी प्रवृत्ति चलती है। जो विषय कषायों में, अशुभोपयोग में बहुत विपाकों से दबा हुआ है, अशुभोपयोग से निवृत्त होने के लिए सभी प्रकार का आलम्बन अशुभ होता है उसको; पर सभी प्रकार का आलम्बन करके भी ज्ञानी जीव अन्तर में कैवल्यस्वरूप का बराबर परिचय बनाए रहता है और जैसे अंतिम लक्ष्य उपलक्ष्य दो बातें हुआ करती है इसी प्रकार इन संयमी जीवों के अपने कल्याण के बारे में लक्ष्य और उपलक्ष्य रहता है। इसका लक्ष्य तो वही है जो साधु का है किन्तु गृहस्थ के उपलक्ष्य ये देव पूजा आदिक समस्त कर्तव्य हैं।

लक्ष्य और उपलक्ष्य का व्यष्टान्त—जैसे किसी पुरुष को अपना एक महल बनाना है तो उसका लक्ष्य हुआ महल बनाना। अब जो कुछ भी काम करेगा वह महल बनाने की निगाह से करेगा। पर उसके रोज-रोज कितनी बातें आती हैं? कितने ही प्रोग्राम बनाता है? आज ईंटें इकट्ठा करवाना है, कल सीमेन्ट का परमिट बनवाना है आदिक अनेक प्रकार के उसके प्रोग्राम चलते हैं। अब थोड़ा-सा मकान बन गया तो अब

इसका झूला बनाना है, छत कराना है, अनेक भाव उसमें चलते हैं, प्रोग्राम चलते हैं, पर वे सब उपलक्ष्य रूप हैं, लक्ष्यरूप नहीं हैं। उन सबको करता है पर दृष्टि एक यही है कि ऐसा महल तैयार कराना है। इसी प्रकार ज्ञानी गृहस्थ अथवा प्रमत्त सम्यगदृष्टि जीवों का लक्ष्य तो एक रहता है सिद्धपद पाना। विनती भी बोलता है, पूजा भी बोलता है, पर कैवल्यस्वरूप का अनुभवन करना ही उसका एक लक्ष्य है। पर उसके उपलक्ष्य परिस्थिति के बश से अनेक हो रहे हैं। जैसे उस महल बनाने वाला जब महल बनवा चुका, सिर्फ पलस्तर भर रह गया तो क्या वह ईंटें इकट्ठा करवाने का प्रोग्राम बनाता है? नहीं बनाता है। जिस परिस्थिति में जो आवश्यक होता है उसका प्रोग्राम बनाता है।

**द्वितीय दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानी के लक्ष्य और उपलक्ष्य का विवरण—अथवा जैसे किसी मनुष्य को नीचे से ऊपर आना है तो वह पहली सीढ़ी पर कदम रखता है और दूसरी सीढ़ी कथश्चित् उपादेय होती है। सर्वथा नहीं होती है। दूसरी सीढ़ी पर कदम रखने के बाद तीसरी सीढ़ी अब उसके कथश्चित् उपादेय है और तीसरी सीढ़ी अब उसके लिए त्याज्य हो गयी। तो इस परिस्थितिवश होने वाले व्यवहार धर्म को वह उपलक्ष्यरूप से करता है, पर उसका परम लक्ष्य, मौलिक लक्ष्य वीतराग केवल ज्ञानस्वभाव का अनुभव है। इस तरह जैसे-जैसे निश्चय का आलम्बन उसके बढ़ता है, कैसे बढ़ता है कि जिसको अशुभोपयोग, विषयकषाय भंग न कर सके, ऐसी परिस्थिति व्यवहार का आलम्बन छूटता है। पर जिन जीवों को निश्चयस्वरूप का परिचय नहीं है इस वीतराग ज्ञायक स्वभाव का तो अनुभवन नहीं है और अशुभोपयोग से बचने का प्रयत्न न करे तो वह स्थिति कल्याण की नहीं है। यह तो प्रकरण अभव्य जीव का है।**

**भव्य के भी मिथ्यात्व के उदय में अज्ञानता—परंतु भव्य जीव भी यदि कोई वर्तमान में मिथ्यादृष्टि है तो कितने ही समय तक अभव्य के सदृश शुभकर्म मात्र में जो भोग निमित्त है उनका श्रद्धान और आचरण करने में अपनी कृतार्थता माने तब तक वह जीव भी ज्ञानरहित है, सम्यकरहित है, पर भव्य जीव ऐसा पुरुष बन सकता है कि वह अपने अन्तर में विराजमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का परिचय कर सके किन्तु जो कभी कर ही नहीं सकते उनको कहते हैं अभव्य जीव। यों तो सभी कहते हैं कि धर्म करो, धर्म करो, छोटे से लेकर बड़े तक सबमें यह प्रसिद्ध है कि धर्म करो पर साधारण जीवों को धर्म के यथार्थ स्वरूप का परिचय नहीं है, और न सुख के स्वरूप का यथार्थ परिचय है—छोटे-छोटे भौख मांगने वाले लोग भी कहते हैं कि धर्म करो, इससे सुख मिलेगा, किन्तु उनकी निगाह में कुछ खाने को दे दो, इतना तो धर्म है और उससे जो पेट भर गया, इतना सुख है।**

**धर्म और धर्म का फल—जरा और भी विशेषरूप से अभव्यजीव चलते हैं तो उनके लिए वे ही सभी कर्ममात्र पुण्यभाव रूप वे तो धर्म हैं और इन्द्रादिक पद मिल जाये, लौकिक महत्व मिल जाये, यह उनका सुख है। ज्ञानी जीव का आत्मस्वभाव तो धर्म है और आत्मस्वभाव से उपयोग की स्थिरता करना यह धर्म का पालन है और उसके फलरूप अनाकुलता है, सदा के लिए निर्विकल्प परिणमन रहना अर्थात् मोक्ष, यह उसका फल है। ज्ञानी जीव शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्बेदनरूप धर्म की श्रद्धा करता है। शुद्ध आत्मतत्त्व का अर्थ है आत्मा का अपने आप अपने सत्य के कारण जो सहजस्वरूप है उस स्वरूप का धारण होना, यही है**

धर्मपालन और अभव्य जीव का धर्मपालन विशुद्ध परिणाम में लिप्त होना और उसको धर्मरूप से श्रद्धान करना, यह है अभव्य की दृष्टि का धर्म पालन।

पर के आश्रय के त्याग के साथ राग का अभाव—मैया ! जो काम जिस विधि से होता है वह काम उसके प्रतिकूल उपाय से नहीं होता । संसार अनात्मतत्त्व में श्रद्धान, ज्ञान और आचरण होता है तो वह उस ही प्रकार होगा । मोक्ष के प्रयोजन में आत्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ही होता है तो वह उसी प्रकार होता है । इस प्रकार निश्चयनय के सिद्धान्त में व्यवहारनय प्रतिषेध के योग्य है । इस प्रकरण में ज्ञानी ऋषि संतों का यह उपदेश है कि राग छोड़ो । अभी ऐसा कहते हैं । राग होता है परवस्तु का आश्रय करने से । राग जो छोड़ेगा उसको पर का आश्रय छुटाना ही पड़ेगा । परवस्तु को उपयोग में लिए रहे और राग छोड़ दे, यह नहीं हो सकता है । तो जहाँ राग छोड़ने का उपदेश किया गया है वहाँ परवस्तु के आश्रय के त्याग का उपदेश समझना । पर के आश्रय करने का नाम व्यवहार है । सो जहाँ यह कहा है कि सर्वथा राग छोड़ो वहाँ यह बात निकालना है कि परवस्तु का आश्रय छोड़ो अर्थात् व्यवहार छोड़ो । पर जिन जीवों के अशुभोपयोगरूप बनाने वाला पर का आश्रय है, वह पर का आश्रय तो छोड़ नहीं सकता और मोक्षमार्ग में चलने की दृष्टि से शुभकर्म और व्यवहार करने का यत्न न करे, उसकी स्थिति शोचनीय है ।

**व्यवहार और निश्चयनय की प्रतिषेध्य प्रतिषेधकता**—जहाँ परम कल्याण की बात होगी वहाँ पर निश्चयतः सर्वप्रकार पर का आश्रय छूटेगा । इस प्रकार यह बताया गया है कि व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य है, प्रतिषेध करने के योग्य है और निश्चयनय प्रतिषेधक है । ऐसा यहाँ जिज्ञासु पुरुष प्रश्न करता है कि कैसे व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य होता और निश्चयनय प्रतिषेधक होता है यह प्रकरण उच्च ज्ञानी संतों के उपदेश का है । जहाँ इतना बल नहीं है ऐसा प्राक् पदबी में तो अपनी दृष्टि को तो स्वच्छ रखें और व्यवहारमार्ग का अपना बराबर आलम्बन रखें, पर ऐसी भावना अपने आपमें बनाएँ कि हे नाथ ! कब वह समय होगा कि जिस समय सर्व प्रकार के पर का आश्रय छूटकर मैं अपने आपके स्वभाव में रत हो सकूँ ? ऐसी भावना रखते हुए अपने आपकी पदबी के अनुसार अपना कार्य करें और भावना दृष्टि अपनी पवित्र बनाएँ ।

नय दो होते हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय । निश्चयनय कहते हैं एक ही पदार्थ को देखना उसही पदार्थ को और व्यवहारनय कहलाता है दो पर दृष्टि होना या अनेक पर दृष्टि होना । फिर उनका परस्पर में सम्बन्ध करना । तो निश्चयनय तो होता है आखिरी लक्ष्य और व्यवहारनय में होती है पहिली प्रवृत्ति । तो व्यवहार प्रवृत्ति में रहने के बाद निश्चय तो आता और व्यवहारनय छूट जाता है । तो व्यवहारनय प्रतिषेध्य हुआ और निश्चयनय प्रतिषेधक हुआ । तो पूछा जा रहा है कि किस प्रकार से व्यवहार प्रतिषेध्य है याने हरने वाला है और किस प्रकार निश्चय प्रतिषेधक है याने व्यवहार के प्रतिषेध के साथ आने वाला है?

## गाथा २७६-२७७

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।

छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरितं तु ववहारो ॥२७६॥

आदा खु मज्ज्ञ णाणं आदा मे दंसणं चरित्ते च ।  
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

**व्यवहारज्ञान**—व्यवहार से ज्ञान क्या कहलाता है ? जो शब्द श्रुत है वह तो व्यवहार ज्ञान है क्योंकि हम व्यवहार से किसी ज्ञान से जानना चाहेंगे तो किसी पर का आश्रय करके जान पायेंगे । जैसे घड़े का जानना, मेज का जानना । तो जानना शुद्ध क्या होता है ? जानन अपने में कैसा परिणाम रखता है ? वह न बता पायेंगे । जहाँ पर का नाम लेकर बताया गया वह व्यवहार है और जानन का खुद का जो स्वरूप है वह स्वरूप समझ में आए तो वह केवल अनुभव की चीज है । उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है । उसका प्रतिपादन किया जायेगा तो किसी का नाम लेकर किया जायेगा ।

**व्यवहारदर्शन**—दर्शन क्या है? जीवादिक जो ९ पदार्थ है वे दर्शन के आश्रयभूत हैं, इसलिए ९ पदार्थ दर्शन है । यह व्यवहार से दर्शन का लक्षण है । कहते हैं कि प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । तो ७ तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है यह कहना व्यवहार है क्योंकि सम्यक्त्व के परिणमन का प्रतिपादन परपदार्थ का आश्रय लेकर किया है । जैसे ज्ञान का प्रतिपादन पदार्थ को विषय बनाकर किया जाता है तो वह ज्ञान व्यवहार है, इसी प्रकार सम्यक्त्व का भी जब पर का विषय करके प्रतिपादन किया जाता है तो वह व्यवहार है । वह हुआ व्यवहारदर्शन ।

**व्यवहारचारित्र**—व्यवहारचारित्र क्या है ? ६ प्रकार की जीवों की रक्षा करना व्यवहारचारित्र है । इसमें भी चारित्र का प्रतिपादन परवस्तु का आश्रय लेकर किया गया है । इसलिए वह व्यवहार है । तो यह तो हुआ व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र ।

**निश्चयज्ञान**—अब निश्चयरूप देखें तो शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रयभूत होने से ज्ञान है । यहाँ निश्चय के विषय का प्रतिपादन दिया है इसलिए निश्चय हो गया, पर इसमें पर का आश्रय नहीं है, स्वयं उपादान है इसलिए निश्चय है । तो यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध आत्मतत्त्व के ज्ञान के परिणमन के काल में इस शुद्ध आत्मा का आश्रय किए हुए है । जो ज्ञान, ज्ञान को जाने वह ज्ञान तो सजग है और जो ज्ञान ज्ञानातिरिक्त पर को जाने वह ज्ञान सजग नहीं कहा जा सकता है । जिसे कहते हैं चित्प्रकाश का अनुभव करना, चित् प्रकाश का अनुभव करते हुए ज्ञान सजग रहता है ।

**निराकुलता का अविनाभावी ज्ञान**—भैया ! निराकुल स्थिति पाने के लिए ऐसा यह दर्शन किया जाता है कि ज्ञान का स्वरूप क्या है ? ज्ञान का शुद्ध कार्य क्या है ? जाननरूप जो वर्तना है यह क्या होता है ? जब यह ज्ञान होता है तो निराकुलता उत्पन्न होती है । कहते हैं ना कि जहाँ ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय इनमें भेद न रहे एक स्वरूप हो तो इसे कहते हैं उत्कृष्ट अवस्था, ध्यान की अवस्था और स्वरूपाचरण की पवित्र अवस्था । तो शुद्ध आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, कारण कि ज्ञान का आश्रयभूत वह आत्मा है ।

**शुद्ध ज्ञान की स्वाश्रितता**—यहाँ एक बात और जानना है कि ज्ञान यदि उपयोग लगाकर किसी को जाने तो वह पराश्रित हुआ और उपयोगरूप न जाने किन्तु स्वयं जाननरूप परिणमन हो वहाँ पर का विषय नहीं हो । जितना मात्र उपयोग लगाकर जानन की स्थिति होती है उसे कहते हैं बुद्धि लगाकर जानना । तो बुद्धि

लगाकर जो जानन होता है वह जानना व्यवहाररूप है, किसी पर का आश्रय करके जानन होता है। जब यह ज्ञान पर का आश्रय छोड़ दे किसी पर के विषय में अपना ध्यान न जमाये तो पर का आश्रय तो छूट गया और ज्ञान का आश्रय है स्वयं आत्मा वह छूटे कैसे। इसलिए उसमें ज्ञान का आश्रय शुद्धआत्मा ही होता है। कोई जीव पर का ध्यान छोड़ दे, किसी पर का विकल्प न करे तो परम ध्यान की स्थिति में पर आश्रय तो रहा नहीं, अब स्व आश्रय छूट सकता नहीं, क्योंकि ज्ञान है स्व के आधार में तो उसमें केवल स्व ही ज्ञात होता है। जहाँ परवस्तु ज्ञात नहीं है वहाँ केवल स्व ही ज्ञात है।

**निश्चयदर्शन**—इसी प्रकार निश्चयनय का दर्शन क्या चीज है? तो दर्शन भी शुद्ध आत्मा है, सम्यक्त्व का आश्रयभूत भी आत्मा ही है। भूतार्थनय से इस आत्मा के जानन का नाम सम्यग्दर्शन है। भूतार्थनय कहता है कि निष्कान्त को स्रोत में जोड़े। निष्कान्त के मायने निकलते हुए का जो आधार है, जहाँ से निकलता है उसको जोड़ दें। निकलते हुए को अलग न बनाए रहे, यही है भूतार्थपद्धति का जानना। जीव में परिणमन है पर्याय है तो वह परिणमन पर्याय कहाँ से निकला है? गुणों से निकला है। जैसे जाननरूप परिणमन ज्ञानगुण से निकला है, कषायरूप परिणमन चारित्रगुण से निकला है। चारित्रगुण का वह विकार परिणमन है। तो चाहे विभाव हो, चाहे स्वभाव हो, निकला तो वह गुण से है। तो कषायादिक परिणमन गुणों से निकले हैं और ये गुण जो भेद-भेदरूप दिखते हैं उनका आधार क्या है, इसका स्रोत क्या है एक आत्मतत्त्व याने आत्मद्रव्य। सो गुणों को आधारभूत अपने आत्मतत्त्व में जोड़े तो यह हुआ भूतार्थशैली का दर्शन। तो सम्यक्त्व का विषय भी शुद्ध आत्मा है।

**निश्चयचारित्र**—भैया! सम्यक्त्व कहते हैं स्वच्छता को। जहाँ विपरीत अभिप्राय न रहा ऐसी जो आत्मा की नैसर्गिक स्वच्छता है उसका नाम है सम्यक्त्व और ऐसी स्वच्छता के रहते हुए जो भी वृत्ति उठ रही है उसका नाम है ज्ञान और जानन में ही स्थिरता हो जाना इसका नाम है चारित्र। यह आत्मा ही परमार्थतः है निश्चय ज्ञान, निश्चयदर्शन और निश्चय चारित्र। चारित्र भी शुद्ध आत्मा ही है क्योंकि चारित्र का आश्रयभूत यह आत्मा ही है। इस प्रकार से हुआ निश्चयज्ञान, निश्चयदर्शन और निश्चयचारित्र।

**शब्दश्रुत की मोक्षमार्गविषयक अनैकान्तिकता**—अब इनका भेद देखिये, आचाराङ्ग आदिक जो ज्ञान का आश्रय है वह अनैकांतिक है अर्थात् आचार आदिक का ज्ञान हो जाने पर भी, सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी सम्यग्ज्ञान हो, न हो, मोक्ष हो, न हो। पर जो निश्चय ज्ञान है, शुद्ध आत्मरूप ज्ञान है यह **एकांतिक** है निश्चयरूप है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो, श्रद्धान हो, आधार हो तो वह निश्चय से मोक्ष का मार्ग बनेगा। पर आचाराङ्ग आदिक शब्दश्रुत का जो आश्रय है ऐसा अंगों का ज्ञान भी वह निश्चय नहीं रखता कि वह मोक्ष को करेगा। इस कारण व्यवहारनय प्रतिषेध्य है और निश्चयनय प्रतिषेधक है क्योंकि शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक आश्रय का इसमें नियम है। इसलिए निश्चयनय प्रतिषेधक है और व्यवहारनय प्रतिषेध्य है। उसी का स्पष्टीकरण यह है कि आचार आदिक जो शब्द श्रुत हैं वह एकांत से ज्ञान का आश्रयभूत नहीं है क्योंकि शब्दश्रुत का सद्भाव होने पर भी या असद्भाव होने पर आत्मा के आश्रय का भाव होने से ज्ञान होता है। पर आचारांगादि का ज्ञान अभव्य जीव भी कर लेता है, किन्तु उसके ज्ञान नहीं है।

**ज्ञान की सजगता**—जो अपने शुद्ध आत्मा को जान लेता है, वह ज्ञान को मानता है। जो ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जाने वह ज्ञान सजग है। जो स्व की अनुभूति को कर लेता है वह परमार्थ ज्ञान है। और जो ज्ञान ज्ञानस्वरूप को छोड़कर किसी परपदार्थ में लगा हुआ है तो वह ज्ञान सजग नहीं हो सकता।

**पराश्रितता**—जीवादिक नौ पदार्थों को, ७ तत्त्वों को सम्यग्दर्शन का आश्रयभूत बताया है। इनका आश्रय करना सम्यग्दर्शन है। तो जीवादिक पदार्थों का दर्शन अभव्य के भी होता है। होता है उसके ऊपरी ढंग से। मर्म को तो वे जानते नहीं। जीव अजीव आदिक जैसे स्वरूप में वे यथार्थ हैं वैसा वह वर्णन करता है, वैसा ही उसकी दृष्टि में होता है। तो फिर भी उस अभव्य जीव के सम्यग्दर्शन नहीं माना, इसी कारण जिसके दर्शन की प्रतीति का आश्रय केवल शुद्धआत्मा है उसके जीवादिक पदार्थ ये हैं—इस प्रकार का आकाररूप श्रद्धान हो या न हो तो भी सम्यग्दर्शन होता है। अपनी शुद्ध वृत्ति बनाएं तो सम्यग्दर्शन व ज्ञान का लाभ मिलेगा। एक शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने से ही सम्यक्त्व होगा।

**आत्मस्पर्श के बिना अचारित्रत्व**—अभव्य जीव अनेक प्रकार से तत्त्वों के नाम ले रहा है पर नाम होते हुए भी व्याख्यान करते हुए भी उस ज्ञानस्वभाव की झलक न होने से बड़ी तपस्याओं को करते हुए भी वह अचारित्री होता है। यह व्यवहारचारित्र है, इसमें मुक्तिमार्ग का नियम नहीं है। अंतरंग में ज्ञान की स्थिरता रखते हुए आनन्द का अनुभव करना। यही है निश्चय चारित्र। तो जीव दया करते हुए भी निश्चयचारित्र हो अथवा न हो यह भी सम्भव है। इस कारण ६ कायों की रक्षा करना, निश्चयचारित्र नहीं है, मुक्ति का मार्गभूत चारित्र नहीं है।

**ज्ञान का वास्तविक आश्रय**—शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है क्योंकि आचार आदिक इन सब शुत विकल्परूप आगम इनका ज्ञान हो या न हो, यदि शुद्ध आत्मा का आश्रय है तो उसके सद्भाव से जीवादिक पदार्थों का सद्भाव होने पर या असद्भाव होने पर शुद्ध आत्मा की प्रतीति में सद्भाव है तो उसका दर्शन होता ही है। शुद्ध आत्मा का, केवल आत्मा का ज्ञानस्वरूप आत्मा का आश्रय करके होने वाले दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्वात्मकता रहती है तो वह मोक्षमार्ग है, पर बाह्यपदार्थों का ज्ञान किया, जीवादिक का बोध किया, ऐसा नहीं है।

**मूल के आश्रय की नियामकता**—भगवान के वचनों में शंका न करना चाहिए यह व्यवहार ठीक है, पर अनुभूति जो उमड़ती है वह भगवान के शब्दों में शंका न करें, मात्र इस प्रकार की स्थिति में नहीं उमड़ती है किन्तु भीतर से उमड़ होती है। जब ज्ञान ज्ञानस्वभाव का आश्रय करता है तब आनन्द उमड़ता है। इस कारण ये सब व्यवहार ज्ञान है, और व्यवहार चारित्र है। चारित्र की दशा रूप परिणमन हो अथवा न हो, जो शुद्ध आत्मा का आश्रय किए हुए है उसके चारित्र होता है। इसका अर्थ यह है कि व्यवहार धर्म में लगे हुए पुरुषों की बात नहीं कह रहे हैं कि उनमें दया नहीं है। वे तो भले हैं, किन्तु प्रवृत्ति धर्म से उत्कृष्ट धर्म में जो लगते हैं, अपने आपके शुद्ध आत्मा की उपासना में लगे हुए हैं, उनके निश्चयतः चारित्र होगा, उनके हिंसा परिणाम नहीं है, राग का विकल्प नहीं है, राग की अनुभूति नहीं है। शुद्ध ज्ञानस्वभाव का अनुभवन चल रहा है इस कारण ये सब निश्चयदर्शन, निश्चयज्ञान और निश्चयचारित्र जो हैं वे व्यवहार के प्रतिषेधक हैं।

**व्यवहार की करुणा—देखो भैया !** निश्चय को स्थान देकर वह व्यवहार फिर हट जाता है । व्यवहार है प्रतिषेध्य, पर व्यवहार कितना उपकारी है कि व्यवहार का मूलभूत जो निश्चय है उस निश्चय को उत्पन्न करके यह व्यवहार खुद मिट जाता है । ऐसा कोई दयालु है जो अपना विनाश करके दूसरे को जमा जाये ? वह व्यवहार ही ऐसा है कि अपना विनाश करके निश्चय को जमा जाता है ऐसा निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र जब उत्पन्न होता है तो व्यवहार हट जाता है और ऐसी अनुभव की स्थिति तब होती है कि वहाँ मात्र अपना आत्मा ही दृष्ट होता है । जानन में, श्रद्धान में, स्पर्शन में, रमण में जो रहा करता है ऐसा निश्चयभूत जो रक्त्रय है वह व्यवहार के रक्त्रय का प्रतिपादक है । व्यवहार रक्त्रय कार्यकारी है जब तक निश्चय रक्त्रय की प्राप्ति नहीं होती दृढ़ता नहीं होती ।

**व्यवहारपूर्वक व्यवहार का प्रतिषेध—जैसे सीढ़ियों का आश्रय लेना तब तक कार्यकारी है जब तक ऊपर न चढ़ जाये ।** उसका ऊपर का चढ़ना प्रतिषेधक है और सीढ़ियों से चढ़ना प्रतिषेध्य हुआ । इसी तरह व्यवहार रक्त्रय प्रतिषेध्य हुआ और निश्चय रक्त्रय प्रतिषेधक हुआ । यह प्रकरण उसे छूता हुआ है जहाँ यह उपदेश दिया था कि रागादिक अध्यवसान सब तजना चाहिए । तो रागादिक तजना चाहिए इसका अर्थ क्या है कि पर का आश्रय तजना चाहिए । राग होता है पर का आश्रय करके । इस राग तजने के उपदेश में समस्त पर के आश्रय को छुड़ाया है । तो पर का आश्रय छूटा, मायने व्यवहार छूटा । यहाँ यह उपदेश दिया कि व्यवहार के छूटने के भीतर व्यवहार का आश्रय कर चुकना गर्भित है, पर वह ढंग से छूटे । ऐसा न छूटे कि पहिले से छोड़े रहे । तो ऐसे छोड़े हुए व्यवहार से काम नहीं चलता है । मूल बात है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञानमात्र आत्मा अपने ज्ञान से अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानें तो इसके कल्याण की प्रगति है ।

**छुटकारा की प्रियता—भैया !** सर्वजीवों को छुटकारा प्यारा होता है । स्कूल में लड़के पढ़ते रहते हैं तो उनकी इच्छा होती है कि कब छुट्टी मिले और जब छुट्टी मिल जाती है तो उसके बाद अपना बस्ता, स्लेट, पाठी उठाकर कैसा दौड़ते हैं? हो हल्ला करते हुए खुशी से भागते हैं। पर खुशी उनको किस बात की है? छुटकारा मिलने की है। छुटकारे का आनन्द सबसे उत्कृष्ट आनन्द होता है। वह तो ६ घन्टों का बंधन है पर वह कितना विकट बन्धन है कि शरीर में जीव फंसा हुआ है। शरीर से निकल नहीं सकता। जो ज्ञानमय पदार्थ है जिसका कार्य सारे विश्व को जान जाना है, ऐसा यह आत्मा इन्द्रिय के द्वारा जान पाता है और सबको नहीं जान पाता है। रागद्वेष विभाव इसके स्वभाव में नहीं हैं, फिर भी उत्पन्न होता है सुख और दुःख, सो ये इस संसार विषवृक्ष के फलस्वरूप हैं। ऐसे विकट बन्धन में पड़ा हुआ वह आत्मा यदि कभी छूट जाये तो उसके आनन्द का क्या ठिकाना ?

**धर्ममय पद की प्रियता—जो इस शरीर के बंधन से छूट जाते हैं उनको ही अरहंत और सिद्ध कहते हैं।** उन परमात्मप्रभु की उपासना में अपने आपकी सावधानी रखनी है। आप लोगों ने इस ग्रीन पार्क में मंदिर बनाया तो कितने प्रेमपूर्वक बनाया, यह देखने वाले ही समझ सकते हैं। धर्म में यदि रूचि न होती तो ऐसे परिश्रम से कमाया हुआ धन आप लोग कैसे लगा देते तो धर्म ज्ञानी संत पुरुषों की दृष्टि में घर से भी अधिक प्यारा है। आप लोगों को घर उतना अधिक न प्यारा होगा जितना धर्म प्यारा है। यदि कभी धर्म का काम आ

जाये तो आप लोग अपने घर के काम काज छोड़कर जरूर उस धर्मकार्य में कुछ समय व्यतीत करेंगे। धर्म पर तो सबकी सामूहिक दृष्टि है, और धर्म के नाते से जितने साधर्मीजन हैं वे सब एक परिवार के लोग हैं। जब धर्म के प्रसंग में आप पड़ौसियों से ग्रामवासियों से मिलते हैं तो आप अपनी सहदयता से मिलते हैं जितना कि घर के लोगों से मिलते हैं।

**करने योग्य काम—जिन्हें धर्म प्रिय है और धर्ममार्ग की ऊँची-ऊँची बातें जिन्हें विदित होती हैं वे धर्ममार्ग में वैसे ही वैसे बढ़ते जाते हैं, यही है बंधन से छुटकारा।** अपने को क्या काम करने के लिए पड़ा है? बंधन से छुटकारा पाने का काम पड़ा हुआ है। अपनी दृष्टि में केवल एक ही बात रखिए कि इसको बंधन से छुटकारा पाना है। मुख्य काम यही है। फिर गृहस्थी में रहते हुए दसों बात चलती रहती हैं। चलें वे भी; पर अपना मुख्य लक्ष्य होना चाहिए कि हमें बंधन से छूटना है।

**शरीरसम्बन्ध की कष्ट कारणता—सर्दी गर्मी आदि के कष्ट होते हैं।** ये सभी कष्ट इस शरीर के सम्बन्ध से होते। शरीर का सम्बन्ध होता है कर्मों के उदय के कारण। कर्मों का उदय तब होता है जब कि पहिले बाँध रखा हो। तो कर्मों का बंधन होता है रागादिक भावों के कारण। यदि रागादिक भाव न हों तो कर्म बंधन मिटे। कर्म बंधन मिटे तो फिर उदय में कैसे आए? जब कर्म उदय में न आये तो शरीर कैसे मिलेगा और जब शरीर न मिलेगा तो उसको दुःख न मिलेंगे। सारे दुःख इस शरीर के सम्बन्ध से है। जहाँ कोई शरीर न हो, केवल जीव हो और दुःख हो जाता हो, ऐसा कोई हो तो बतावो। सर्दी लगती है तो शरीर के सम्बन्ध से, गर्मी लगती है तो शरीर के सम्बन्ध से, भूख प्यास लगती है तो शरीर के सम्बन्ध से।

**शरीरसम्बन्धजा इष्टानिष्ठ कल्पना—यह मेरा इष्ट है, यह अनिष्ट है, यह भी कल्पना शरीर के सम्बन्ध से होती है।** क्योंकि अपने को इस शरीरमात्र मान रखा है। तो इस पर्यायबुद्धि के होने से जिससे कुछ अपना सुख अनुभव कर लिया उसे इष्ट मान लेते हैं। और जो उनके सुखसाधन में बाधक हुआ उसे अनिष्ट मान लेते हैं। तो इष्ट अनिष्ट का भी जो प्रकार बढ़ता है वह शरीर के ही सम्बन्ध से बढ़ता है। तो यह निश्चय करो कि जितने भी जीव को क्लेश है वे सब शरीर के सम्बन्ध से हैं।

**रागपरिहार का उपाय—भैया!** ऐसा उपाय होना चाहिए कि इस शरीर का सम्बन्ध छूटे। केवल आत्मा ही आत्मा रहे तो कल्याण हो सकता है। तो शरीर का बन्धन छुड़ाने के लिए, संकट दूर करने के लिए कर्तव्य यह है कि रागादिक भाव पैदा न हों। रागादिक भाव पैदा न हो इसका भी कोई उपाय है क्या है कुछ सोच तो रखा होगा। चाहे कर न सके हो पर मान तो रखा होगा कि रागादिक भाव मेटने का कोई उपाय है। रागादिक भाव मेटने का कोई उपाय सोचा तो होगा कि घर बार त्याग दे, जंगल में पड़े रहे तो रागादिक छूट जायेंगे। यद्यपि यह भी सहकारी कारण है पर मूल से रागादिकभाव छूट जायें, इसका उपाय यह नहीं है। रागादिक भाव छूटने का उपाय रागादिक भाव मेरे नहीं ऐसा परिणाम बनाना है। यही रागादि के छुटाने का मूल उपाय है। रागादिक औपाधिक भाव हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्य तेज हूँ, शुद्ध चिन्मात्र हूँ। उस शुद्ध चैतन्यमात्र से अतिरिक्त जितने भी परिणाम वे समस्त अध्यवसान बंध के कारण कहे गए हैं।

अब इस प्रसंग में यह प्रश्न होता है कि रागादिक सदा तो होते नहीं। होते हैं कभी तो क्यों होते हैं?

इनका निमित्त क्या है ? आत्मा के रागादिक होने में आत्मा निमित्त है या परपदार्थ निमित्त है ऐसा किसी ने एक क्षोभ पैदा किया है । तो उत्तर देते हैं कि—

## गाथा २७८-२७९

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं ।

रंगिज्जदि अणेहिं दु सो रत्तादीहिं दब्वेहिं ॥२७८॥

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमादीहिं ।

राइज्जदि अणेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

रागादिक की औपाधिकता पर स्फटिक का दृष्टान्त—जैसे स्फटिकमणि स्वयं अपने आप अपने आपकी ओर से शुद्ध है वह रागादिक भावों से अर्थात् लाल पीला बन जाये इस प्रकार स्वयं नहीं परिणमता है । पर वह स्फटिकमणि दूसरे लाल काले आदिक पदार्थों का निमित्त पाकर रंगरूप परिणम जाता है । दर्पण की तरह चारों ओर से स्वच्छ एक स्फटिक पाषाण होता है, मणि नहीं, स्फटिक पाषाण तो देखा ही होगा और सफेद मणि भी देखा होगा, वह स्वयं स्वच्छ है, उसमें रागादिक नहीं है । स्फटिकमणि के पास हरा, पीला, नीला डांक लग जाये तो वह स्फटिकमणि हरे पीले आदि रूप परिणम जाता है । वह विकार स्फटिक के कारण होता है या उसके साथ जो लाल आदि चीजें लगी हैं उसके कारण होता है ? जो दूसरी चीज लगी है लाल, पीली आदि उसका निमित्त पाकर यह स्फटिकमणि लाल पीले रूप परिणमा । इस ही प्रकार आत्मा स्वयं शुद्ध है, यह रागद्वेषरूप नहीं है परन्तु दूसरी जो रागादिक प्रकृतियां हैं, दोष है, उनके निमित्त से ये रागादिकरूप किए जाते हैं ।

निमित्त होने पर भी नैमित्तिक परिणति मात्र उपादान में—भैया । यह आत्मा रागादिक रूप जो परिणमा है वह स्वयं नहीं परिणमा है किन्तु दूसरी प्रकृति के सम्बन्ध से उसका निमित्त पाकर यह रागादिक रूप परिणमा है । इस दृष्टान्त में यह भी दृष्टि दें कि रागादिक रूप परिणमा है तो वह स्फटिकमणि ही परिणमा है, पर वह दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध पाकर परिणमा है । जैसे कोई आदमी गाली दे तो दूसरा गुस्सा करता है, तो देखने वाले लोग तो यह कहते हैं कि गाली देने वाले ने गुस्सा पैदा कर दिया है । पर गुस्सा जो पैदा किया है, गुस्सारूप जो परिणमा है यह वही परिणमा है, गाली देने वाले ने गुस्सा नहीं किया है । किन्तु गाली देने वाले के शब्दों का निमित्त पाकर यह पुरुष गुस्सारूप परिणम गया है । इसी प्रकार कर्मों का निमित्त पाकर यह आत्मा रागद्वेषरूप परिणम गया है ।

एकत्व प्रतीति का कर्तव्य—अब उपाय क्या ? ऐसा क्या कार्य करें कि जिससे नवीन कर्मों का बंध न हो । नवीन कर्मों का बंधन न हो उसका उपाय यह है कि रागद्वेष का उपयोग कम कर दें और यह मानें कि यह सर्व विश्व मुझसे पृथक है मैं केवल चैतन्यमात्र हूँ । अपने आपमें अपने आपके चैतन्य तेज को ही देखो और उसे ही मानो कि यह मैं हूँ । बाकी सर्व वैभव घर समुदाय परिवारजन सब कुछ मैं नहीं हूँ, मैं तो एक चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ, ऐसी अन्तर में प्रतीति हो तो आत्मा को ज्ञानबल प्राप्त होगा ।

**विकार में उपाधि की सत्त्विधि का नियम**—जैसे स्फटिक पाषाण स्वयं किसी रूप परिणमन का स्वभाव नहीं रखता है, वह तो स्वच्छरूप ही परिणमता रहता है, उसमें परउपाधि कहीं जरूरत नहीं है, पर अपनी स्वच्छता के प्रतिकूल जब वह स्फटिक पाषाण लाल हरा आदिरूप परिणम जाता है तो वहां पर-उपाधि का सत्त्विधान आवश्यक है। तो यद्यपि यह स्फटिक पाषाण स्वयं परिणमन का स्वभाव रखता है, फिर भी खुद तो जुदा स्वभाव है, इस कारण रागादिक भावों का निमित्त नहीं बन पाता। रागादिक भावों के निमित्त का अभाव है इस कारण रागादिक रूप यह आत्मा बिना निमित्त पाकर अपने आप नहीं परिणमता किन्तु परद्रव्यों के ही द्वारा रागादिक के निमित्तभूत जो है उनका ही निमित्त पाकर यह आत्मा अपने स्वभाव से चिंगकर स्वयं रागादिकरूप परिणमता है, अर्थात् अपनी परिणति से रागादिकरूप बन जाता है।

**वर्तमान स्थिति में प्रवृत्ति और भावना**—इस आत्मा के रागद्वेषरूप आदि विकार और **विकासाभाव** बनाने में निमित्त क्या हुए? ये जो ८ प्रकार के कर्म हैं और उत्तरभेद से १४८ तरह के हैं। इस घटना में यह जानते रहना चाहिए कि अपनी रागादिक परिणति होकर भी यह मैं नहीं हूँ। यह उदयजन्य चीज है, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, ऐसी अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की दृष्टि करें तो मेरा कल्याण हो सकता है। यह तो हुई सिद्धान्त की बात। पर गृहस्थावस्था में हम आपको क्या करना चाहिए? जो प्रेक्षिकल बात हो, जिससे आप गृहस्थजन धर्म के मार्ग में लगे रहें—वह कर्तव्य है एक प्रभु पूजा।

**प्रभुपूजा में ज्ञानी का विवेक**—प्रभुपूजा में भगवान की मूर्ति का एक बड़ा विशुद्ध आलम्बन है। हम आप भक्ति करते हैं अरहंत की और आलम्बन रखते हैं उसकी मूर्ति का। किसी दर्शक को दर्शन करते हुए क्या आपने ऐसा सुना है कि हे भगवान! तुम डेढ़ बेथा के लम्बे हो, जयपुर में बने हो, अमुक कारीगर ने गढ़ा है, ऐसा सुना है क्या? मंदिर में आकर तुम दर्शन करते हो तो ऐसा कहते हुए तुमने किसी को भगवान की पूजा करते हुए न देखा होगा तो उस पत्थर की पूजा होती है क्या? उस पत्थर की पूजा नहीं होती है। अरे उस मूर्ति के समक्ष आकर यह पूजा करते हैं कि हे भगवान वीरदेव! तुमने चार घातिया कर्मों का विनाश कर दिया, तुमने कैवल्य अवस्था प्राप्त की। हमें भी आप जैसा ही बनना है। सो जो भी मंदिर में मूर्ति का पूजन करता है वह पत्थर की पूजा नहीं करता है, वह प्रभु के गुणों की पूजा करता है। मंदिर में जिसकी मूर्ति स्थापित की गई है उसके गुणों की पूजा होती है, पाषाण की पूजा नहीं होती है। गृहस्थजनों के लिए पाषाण की मूर्ति भगवान की पूजा के लिए एक आलम्बन मात्र है। तो श्रावकों के कर्तव्यों में सर्वप्रथम कर्तव्य है प्रभु की पूजा करना।

**प्रभुपूजा के भाव का प्रभाव**—भगवान वीर प्रभु के समवशरण में सब लोग जा रहे थे—घोड़े, बंदर, नेवला, सांप आदि सभी जा रहे थे। एक मेंढक भी उछलते कूदते समवशरण में पहुंचने जा रहा था। भगवान के समवशरण में मनुष्य, देव, पशु, पक्षी सभी बैठकर सुनते हैं और जिस वीर के उपदेश को सुनकर मनुष्य आत्मा का लाभ लेते हैं, इसी प्रकार पशु पक्षी आदि वीर की ध्वनि सुन कर अपना लाभ लेते हैं। तो एक मेंढक जा रहा था एक फूल की पंखुड़ी दबाए हुए कि वीर प्रभु का दर्शन करेंगे। वह उछलता कूदता जा रहा था। श्रेणिक राजा भी हाथी पर चढ़ा हुआ जा रहा था समवशरण में पहुंचने के लिए। मार्ग में हाथी के

पैर से वह मेंढक दब गया, जो फूल की पंखुड़ी लेकर भगवान के समवशरण में जा रहा था । मेंढक मरकर अन्तर्मुहूर्त में ही देव हो गया और चंद मिनटों में ही देव बनकर जवान हो गया ।

**प्रभु पूजा की महिमा**—समवशरण में पहुंच गया । राजा श्रेणिक जब समवशरण में पहुंचा तो उसने देखा कि इस देव के मुकुट में मेंढक का चित्र बना है, सो पूछा कि यह देव कौन है जो मुकुट बांधे है और जिसके मुकुट में मेंढक का निशान बना है ? तो वहाँ उपदेश हुआ कि यह देव पूर्वभव में मेंढक था, आप हाथी पर बैठे हुए समवशरण में चले जा रहे थे और मेंढक भी उछलता कूदता समवशरण में चला जा रहा था । सो हाथी के पैर के नीचे आकर मेंढक मर गया था और यही मेंढक मरकर चंद मिनट में ही देव हुआ । तो प्रभु की पूजा के भाव से समवशरण में जाता हुआ मेंढक चन्द मिनट में ही देव बन गया । प्रभु की पूजा में बहुत गुण है । यदि कोई भक्तिपूर्वक गद्गद भक्ति से प्रभु की ओर अपनी दृष्टि रखता है, प्रभु के गुणों में ही चित्त देता तो उसकी बहुत-सी बाधाएं, बहुत से संकट, पाप का उदय शीघ्र ही समाप्त हो जाता है । प्रभु पूजा का क्या वर्णन किया जाये?

**प्रभुभक्त की एक कथा**—एक कथानक है कि एक पुरुष अपने मकान में एक मूर्ति रखकर रोज पूजा करता था । पूजा करते-करते उसको कई वर्ष हो गए । पहिले तो वह गरीब था, पर प्रभु भक्ति से उपर्जित पुण्य के ही कारण उसकी गरीबी दूर हो गई थी । उसके यहाँ धन काफी बढ़ गया था । सो एक रात्रि में चार चोर उसके घर में धन चुराने के लिए गए । चारों चोरों ने विचार कर लिया था कि उसका सारा धन भी ले लें और उसे मार भी डालें ताकि पीछे कोई झगड़ा न रहे । सो उसके घर में घुस गए और कह दिया कि देखो हम तुम्हारा धन और तुम्हारी जान लेने के लिए आये हैं । तो वह बोला कि अच्छा है, मेरा धन ले लो, मेरी जान ले लो इसकी मुझे चिंता नहीं है पर थोड़ी-सी एक बात है कि इस प्रभु की मूर्ति को हम पानी में सिरा आए फिर हमें कोई चिंता न रहेगी । निःशल्य होकर हम धन दे देंगे और जान भी देंगे । चारों चोरों ने विचार किया कि अभी रात्रि के १२ बजे है एक डेढ़ घंटे में आ जायेगा, सो यह सोचकर दो चोर संग में हो लिए और वह चल दिया ।

**प्रभुभक्त की प्रार्थना**—वह उस मूर्ति को पानी में लेकर गया । जब कमर बराबर जल में पहुंच गया तो उस प्रभुमूर्ति की विनती करता है कि हे भगवन् ! मैं ३० वर्ष से तुम्हारी पूजा करता आया हूं, अब मैं तुम्हें इस जल में सिरा रहा हूं, आपको सिरा करके जाऊंगा और अपने प्राण दूँगा । मैंने सोचा कि जान देने के बाद फिर आपकी पूजा करने वाला कोई न होगा, सो इन्हीं हाथों से आपको सिराता हूं । पर एक बात पूछता हूं नाथ, मुझे किसी बात का गम नहीं है । मैं आपको सिराता हूं तो यह भी एक धर्म की टूटी विधि है और जान जायेगी इसकी भी रंच परवाह नहीं है, पर दुनिया क्या कहेगी कि प्रभुभक्ति करने का यह फल होता है कि जान जाया करती है । इसका जरूर खेद है कि थोड़ा धर्म की प्रभावना में कमी आ जायेगी।

**प्रभुभक्त का समाधान**—इतने में ही एक ध्वनि ऐसी आई कि हे भक्त ! तू विषाद न कर, ये जो चार चोर आए हैं इनको तूने पहले भवों में मारा था । सो जो जिसके द्वारा मारा जाता है वह प्रायः अगले भव में अपना बदला चुकाता है । सो तूने इन चारों चोरों को मारा था । यदि तुझे ये क्रम-क्रम से मारते तो चार भवों

में मारते। एक एक भव में मारता, दूसरा दूसरे भव में, इसी प्रकार तीसरा और चौथा भी मारता, पर यह प्रभुभक्ति का ही प्रसाद है कि चार बार तुझे नहीं मारना पड़ रहा है, एक बार ही चारों के द्वारा मिलकर मारा जा रहा है। यह प्रभुभक्ति का ही प्रसाद है।

प्रभुभक्ति से उपाजित पुण्य का प्रसाद—जब ऐसी बात दो चोरों ने सुनी और जाना कि इसकी तो बड़ी महिमा है, तो कहा—भैया अब न सिरावो इस मूर्ति को। अब हमारे साथ घर-लौटकर चलो हम चारों विचार करेंगे तब इसे पानी में सिराना। उन दोनों चोरों के साथ वह आदमी घर गया। घर पर उन दोनों चोरों ने साथ के दोनों चोरों से सारी बात कह सुनाई। चारों चोर सोचते हैं कि प्रभु ने जब इसके तीन भवों का मरण काट दिया तो क्या हम चारों मिलकर इसका एक भव नहीं काट सकते हैं? सो कहा कि जावो, अब हम तुम्हारी न तो जान लेंगे और न तुम्हारा धन लूटेंगे। तुम प्रभु की इसी तरह से उपासना करते रहो जिस तरह अभी तक करते आये हो। तो प्रभुस्वरूप की बड़ी महिमा है, पर लगन होनी चाहिए ऐसी जैसी कि अपने परिवार के लोगों में या अन्य किसी में करते हो। उससे भी अधिक लगन प्रभु की ओर लगनी चाहिए।

विकार में निमित्तभूत पदार्थ—जैसे स्फटिक पत्थर चारों तरफ से शुद्ध स्वच्छ होता है, उसके पास जिस रंग का कागज लगा दें उसमें उसी प्रकार का प्रतिभास होने लगता है। तो यहाँ जैसे यह पूछा गया कि स्फटिक मणि में जो नाना रंग झल्लके उसमें निमित्त कारण क्या पाषाण ही है या कोई दूसरी चीज है? यदि कहेंगे कि स्फटिक पाषाण ही है। तो स्फटिक पाषाण तो सदा रहता है। यदि स्वयं के ही निमित्त से ऐसा रंग पड़ गया, झल्लक गया तो उसमें यह रंग सदा रहना चाहिए और कहें कि उसमें दूसरा कोई निमित्त है तो उसका अर्थ यह हुआ कि जो कागज है वह है निमित्त और स्फटिक जो स्वयं लालरूप परिणम गया, वह है उपादान। तो जो खुद लाल हो रहा है ऐसे उस डंक का निमित्त पाकर स्फटिकमणि स्वयं रंग रूप परिणम रहा है।

निमित्त से विविक्त निज की उन्मुखता—इसी तरह यह आत्मा स्वयं स्वच्छ है, इसका स्वभाव जाननमात्र है, यह स्वयं रागद्वेष रूप नहीं परिणम सकता है, यहाँ कोई परद्रव्य का सम्बन्ध है। जिनका सम्बन्ध है वे हैं नाना कर्मपर्यायें। उनके उदय का सम्बन्ध पाकर यह आत्मा रागादिक रूप परिणम जाता है। तो ऐसे परिणमते हुए आत्मा में यह निर्णय करना कि ये रागादिक मेरे स्वभाव नहीं हैं, ये परकृत ऐब हैं, इन रूप मैं नहीं हूं, इनसे मेरा हित नहीं है, ये रागादिक भिन्न चीज है, मैं तो शुद्धज्ञानमात्र हूं, ऐसा अपने आपमें शुद्ध ज्ञानमात्र का अनुभव करना सो मोह को दूर करने का उपाय है। वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि वस्तु अपने आपकी सत्ता के कारण विकाररूप नहीं है। उसमें रंच बिगाड़ नहीं है। बिगाड़ जितना होता है वह किसी परद्रव्य के सम्बन्ध से होता है। जब परद्रव्य मेरे कुछ नहीं हैं तो परद्रव्यों के सम्बन्ध से होने वाले विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानमात्र है। ये सब मोह के नाच हैं।

मोहनृत्य—भैया! घर में बस रहे हैं, लोगों से प्रीति बढ़ा रहे हैं। इन अनन्त जीवों में से दो चार जनों को छांटकर अपना मान रहे हैं, यह सब मोह का नाच है। जीव तो सभी अकेले स्वतंत्र अपने स्वरूप रूप हैं

। जीव का अन्य कुछ नहीं लगता, मगर मोह का ऐसा प्रबल नाच है कि जिस उदय में यह जीव पिसा जा रहा है, इसका जो शुद्ध चैतन्य प्राण है इसका घात होता चला जा रहा है फिर भी यह जीव मस्त हो रहा है राग-द्वेष में ।

कल्पनाशस्त्र से स्व का घात—यह जीव अपने चैतन्यप्रभु की हिंसा कर रहा है, बरबाद हो रहा है, निगोद पशु पक्षी आदिक गतियों में जन्म-मरण लेता फिर रहा है—ऐसी कठिन दशा इस कारणपरमात्मतत्त्व की, कारणसमयसार की हो रही है । वह केवल मोह के कारण हो रही है । जगत् में मोह के सिवाय और दुःख ही क्या है? कोई इष्ट गुजर गया तो बड़ा दुःखी होता है । क्या दुःख हो गया? जगत् में अनन्त जीव हैं वे जन्म मरण करते हैं, कोई कहीं पैदा होता है, मरकर फिर कहीं चला जाता है यह तो इस जगत् की रीति है और जो गुजर गया उसमें कोई स्वरूप नहीं है । तुम अपने स्वरूपरूप हो, हम अपने स्वरूपरूप हैं । इसमें मेरा क्या बिगाड़ हुआ और आपका इसमें क्या नुकसान है, सब विविक्त हैं, लेकिन मोह एक ऐसा प्रबल विकार है कि यह अपने आप विचार-विचार कर दुःखी होता है मित्र का वियोग होने पर ।

मरण के वियोग में टोटे में कौन—भैया ! इष्ट, स्त्री, पुत्रादिक किसी का वियोग होने पर खुद सोच लो कि टोटे में कौन रहा है? मरने वाला टोटे में रहा या ये जीने वाले टोटे में रहे ? मरने वाला तो मरकर चला गया, नया शरीर पा गया, नयी बुद्धि होगी, उसको यहाँ के किन्हीं लोगों की खबर न रहेगी । उसे तो यह भी खबर न रहेगी कि मेरा घर कहाँ है? वह तो मस्त है जिस पर्याय में पहुंच गया वहीं का हो गया । किन्तु ये जो जिन्दा रह गए वे उसके बारे में ख्याल कर करके दुःखी हुआ करते हैं । जो जिन्दा रह गए है वे उस मर जाने वाले के प्रति सोच-सोच कर रोते रहते हैं ।

पर के शरण की असंभवता—इस जगत् में कोई मेरे को सुखी करना चाहे तो नहीं कर सकता है । केवल एक मेरा आत्मा मेरे लक्ष्य में रहे तो मैं सुखी हो सकता हूँ । यह जीव अपने आपके रागभाव में खुद निमित्त नहीं हो सकता । जैसे सूर्यकान्तमणि खुद रंग बिरंगा बने, उसमें खुद निमित्त नहीं हो सकता । इसी प्रकार इस आत्मा में भी जो रागद्वेषों का बिगाड़ आता है, उसका कारण परद्रव्यों का संग है । परसंग न हो तो बिगाड़ न हो ।

बहुसंग के अभाव में आकुलता की कमी—जिसके एक ही लड़का है उसको ज्यादा आकुलता नहीं है, जिसके दो-चार बच्चे हैं उसको बहुत आकुलताएं हैं । जिसके कई बच्चे हैं उसके अनेक प्रकार के विचार चलेंगे, अनेक प्रकार की कल्पनाएं बनेंगी । जिसके एक ही पुत्र है उसके अनेक प्रकार की कल्पनाएँ नहीं होती है, क्योंकि वह जानता है कि मेरे मरण के बाद सब कुछ इसी का तो है, उसको कोई फिकर नहीं होती है और जिसके कई बच्चे हैं उसके यह फिकर रहती है कि यह सब धन इनको छांटना पड़ेगा । संत जन तो इसीलिए निश्चित रहते हैं कि वे अकेले हैं । उनका रोज का काम है आत्मा की दृष्टि करना और उसी में तृप्त बने रहना ।

संकटमोचक परमौषधि—भैया ! जितना परसंग बढ़ता है उतना ही बिगाड़ होता है । मगर ज्ञान एक ऐसी अमोघ औषधि है कि घर में रहते हुए, परिवार के बीच में रहते हुए भी आकुलता नहीं होती । जब भी

विपत्ति आए, अपने आपको केवल चैतन्यप्रकाशमात्र देखें, सबसे न्यारा केवल अपनी स्वरूप सत्तामात्र अपने स्वरूप को निरखे वहाँ सारा क्लेश तुरन्त दूर होता है। लेकिन ऐसी स्थिति गृहस्थों की देर तक नहीं हो सकती। इस कारण फिर आकुलता में पड़ जाते हैं पर न रहो देर तक, जितनी देर अपने आत्मा के अंतरंग में प्रकाश मात्र चैतन्यस्वरूप को देखें उतनी देर तो आत्मा में निराकुलता समझ में आए कि अरहंत सिद्ध जिसकी हम पूजा करते हैं वे कैसे आनन्द लूटा करते हैं? हम आपका आनन्द चिरकाल तक नहीं रहता है, प्रभु का आनन्द चिरकाल तक रहता है पर एक झलक तो पाया।

**प्रभु के आनन्द की जाति के आनन्द के अनुभव का एक दृष्टान्त—जैसे एक गरीब पुरुष दो आने की ही किसी चौबे की दुकान से मिठाई खरीदकर खा लेता है और एक रईस पुरुष तीन पाव मिठाई उसी दुकान से वही मिठाई खरीदकर छक्कर खा लेता है तो यद्यपि उस गरीब आदमी ने छक्कर तो नहीं खाया पर स्वाद तो वही पाया है जो कि उस रईस पुरुष ने पाया है। इसी प्रकार यहाँ के गृहस्थजन अथवा प्रमत्त साधु उस आनन्द को पा सकते हैं जो प्रभु का आनन्द है, जिस आनन्द को प्रभु चिरकाल तक छक कर पाते रहते हैं। केवल अपने आपकी ओर मुड़कर पायेंगे सार का लाभ और बाहर के पदार्थों की ओर मुड़कर आकुलता और विडम्बना ही पायेंगे।**

**नरजन्म का सदुपयोग—यह मनुष्य जन्म पाया है तो यहाँ सार बात यही है। इसका सदुपयोग करना है, इस मनुष्य जन्म को पाकर इसे व्यर्थ नहीं खोना है। विषय-कषाय तो पशु-पक्षी भी कर रहे हैं, पेट तो पशु-पक्षी भी भर रहे हैं। पेट भरना, विषय-कषाय भोगना, यही एकमात्र उद्देश्य रहा तो मनुष्य-देह पाने से क्या लाभ रहा जैसा आया वैसा ही चला गया। यहाँ का लाभ यह है कि इस सहज पदार्थ के समागम को पुण्य पर छोड़ो, जैसा उदय होगा तैसा प्राप्त होगा। उदय से अधिक किसी को प्राप्त नहीं होता और धन खर्च कर देने पर भी, दान दे देने पर भी हृदय के भीतर जितना खाली हो गया हो, किसी न किसी उपाय से बाद में वह भर जाता है।**

**पुण्योदयानुसार लोकसमृद्धि का एक दृष्टान्त—जैसे कुवां होता है उस कुवें की द्विर से ज्यादा पानी नहीं निकलता है। जितना पानी भरा रहता है उससे ज्यादा कहाँ से आए और उससे निकाल लें तो जहाँ तक घिरा है वहाँ तक फिर से पानी आ गया। उस कुवें से जितना चाहे पानी निकाल लो, जितना चाहे मेला बाले उससे पानी निकाल लें, उसे जरा एक आध रात का विश्राम तो मिले, सुबह देखोगे तो वह कुवां लबालब भरा हुआ आपको मिलेगा। इसी प्रकार धन वैभव सम्पदा के ज्यादा जोड़ने में परिश्रम नहीं करना है, वह तो थोड़े से ही परिश्रम से आता रहता है। उसके आने का मुख्य कारण है पुण्योदय। यदि उदय हो तो धन सम्पदा स्वयं प्राप्त होगी। उदय की रक्षा के लिए कर्तव्य कि हम अच्छे कार्यों में लगें, शुभोपयोग के कार्यों में लगें जिससे कोई संक्लेश न हो, पाप का परिणाम न हो, पुण्य खत्म न हो जाये, जिस पुण्य से मनुष्यजन्म पाया है उस पुण्य की रक्षा करो। यदि उस पुण्य का नाश कर दिया तो दुर्गति होगी।**

**वस्तुविज्ञानी के बन्ध का अभाव—इस जीव में जो रागभाव आते हैं उनका निमित्त यह जीव स्वयं नहीं है। उसके परपदार्थों का संग निमित्त है। यह आत्मवस्तु का स्वभाव है कि प्रत्येक जीव अपनी ओर से**

ज्ञानरूप बनता है। परपदार्थों का संग होने से यह अज्ञानरूप बन जाया करता है। इस प्रकार जो वस्तु के स्वभाव को अपने आपके स्वरूप को ज्ञानीजन जानते हैं इस कारण ज्ञानी जनों के पूर्वभवों के बाधे हुए कर्मों के उदय से रागादिकभाव भी आयें तो भी अपने को रागादिकरूप नहीं बनाते। सो वे रागादिक के कर्ता नहीं होते। देखो अपने आप रागद्वेष आयें तो हम मानें कि ये रागद्वेष मेरे स्वरूप हैं, मेरे सम्बन्धी हैं। किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। वे सबसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को जानते हैं। वे जीव रागादिक के करने वाले नहीं हैं, वे कर्ता नहीं हैं। उनके कर्मों का बंध नहीं होता। इसी बात को अब और भी स्पष्ट रूप से कहते हैं।

## गाथा २८०

ण य रायदोसमोहं कुब्वदि णाणी कसायभावं वा ।

सयमप्पणो ण सो तेण कारणो तेसिं भावाणं ॥२८०॥

राग के कर्तृत्व का कारण—ज्ञानी जीव अपने आप ही अपने आपको रागद्वेष मोहरूप अथवा विषयकषायरूप नहीं करता। इस कारण वह ज्ञानी उन भावों का कर्ता नहीं है। जो अपने को मनुष्य मानेगा वह मनुष्य के योग्य काम करेगा, जो अपने को बच्चों का बाप मानेगा वह बाप के अनुकूल अपना काम करेगा अर्थात् बच्चों की चिंता करना, बच्चों का पालन ये सब कार्य करेगा। जो अपने को धनवान मानेगा वह जैसे धनवान को काम करना चाहिए वैसे काम करेगा। जो अपने को त्यागी साधु समझे सो त्यागी साधु को जैसा काम करना चाहिए वैसा काम करेगा। जो जीव अपने को जो मान लेता है उसके अनुकूल ही वह कार्य करता है। जैसे कोई कमेटी है उस कमेटी के आप सदस्य हैं तो आप उस सदस्य के नाते से उसमें आप काम करते हैं। कमेटी में जो बात आती है उसके विरोध में आप कार्य करते हैं। मिट जाये तो मिट जाये इतना तक आप भाव बनाते हैं और मान लो सब लोगों की विनती करने से आपने मंत्रीपद स्वीकार कर लिया तो अब आपकी मान्यता में यह आ गया कि मैं मंत्री हूँ। तो जिसका अभी तक आप विरोध करते चले आये थे उस काम को ठीक-ठीक आप कर लेंगे। तो यह परिवर्तन आपकी मान्यता लायी। जहाँ यह मान्यता हुई कि अब मैं इनका अधिकारी हूँ तहाँ से ही भाव बदल गया।

कर्तृत्व की शिक्षा मोह में नैसर्गिकी—एक कुमारी लड़की जिसका अभी विवाह नहीं हुआ है वह सरफटकाये अभी इधर-इधर डोलती है, फिरती है, कोई विकार नहीं है और जहाँ भाँवर पड़ी तहाँ ही उसकी चाल-ढाल सबमें अन्तर आ जाता है। पहिले कैसा अटपट एकदम उठकर भागती थी अब वह गजगामिनी की चाल में अपने कपड़ों को समेटकर चलती है। यह फर्क किसने ला दिया? उसकी मान्यता ने। २ मिनट में ही उसकी चाल-ढाल को किसने बदल दिया? उसकी मान्यता ने। उस लड़की की मान्यता में यह आ गया कि अब मैं स्त्री हूँ। तो उस मान्यता के अनुकूल उसकी सारी बातों में अन्तर आ गया।

आत्मत्व की मान्यता में आत्मानुसारिता—यह जीव अपने को जैसा मानता है उसके अनुकूल इसके राग और द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। और क्योंजी कोई आदमी अपने को सिर्फ आत्मा ही आत्मा मानता हो, वह

अपने को मनुष्य न मानें किन्तु एक शुद्ध चैतन्य आत्मद्रव्य मानें, जैसे जगत् के सब जीव हैं वैसा ही मेरा स्वरूप है, जो सब है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही सब है, जो मैं हूँ वह प्रभु है, जो प्रभु है वह मैं हूँ, ऐसी निगाह कब बनती है ? जब आत्मा का जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह चैतन्यस्वरूप दृष्टि में आता है तब यह बात बनती है । तो जब इस जीव ने अपने को एक चैतन्य मान लिया तो चैतन्य के अनुकूल काम करेगा । अपने को इंसान मानेगा तो इन्सान के योग्य दूसरों की सेवा करना, दूसरों के काम आना, इस प्रकार के सेवा के कार्य करेगा और कोई अपने को इन्सान भी न माने, इन्सान से ऊंचा एक अपने को आत्मा मानें, एक जाननहार पदार्थ माने तो सब चेष्टाओं को वह समाप्त करके केवल जाननहार देखनहार बनेगा ।

**सुख दुःख की कल्पनानुसारिता—भैया !** हमें सुख हो अथवा दुःख हो, यह सब हमारी मान्यता पर आधारित है । आपका कोई काम किसी बाहरी जगह पर है, मानो अहमदाबाद में है । किसी ने खबर दे दी कि आपके व्यापार में २ लाख रुपये की हानि हो गई है । चाहे वहां कुछ न हुआ हो, बल्कि दो लाख बढ़ गए हों पर इसने अपनी मान्यता बना ली इसलिए रात-दिन दुःखी रहता है । हुआ वहां कुछ नहीं । वहां तो अमन चैन है । खूब अच्छा काम चल रहा है पर इसने अपने उपयोग में हानि जैसी बात बना ली, लो वहां वह दुःखी हो रहा है और चाहे यहाँ टोटा ही पड़ गया हो और किसी ने झूठमूठ खबर कर दी कि तुम्हारे व्यापार में दो लाख रुपये की वृद्धि हुई है, लो इतनी बात सुनकर ही वह फूला नहीं समा रहा है । तो सब मान्यता का ही फल है और क्यों जी हानि हो या लाभ हो, सारी स्थितियों को एक समान मानें, उन बाह्य पदार्थों की कैसी भी स्थिति आए, इससे न तो आत्मा का कुछ सुधार है और न बिगाड़ है तो ऐसी मान्यता से ही शांति मिलेगी । बाहर में कितना ही श्रम कर लें पर शांति नहीं मिल सकती है । यदि अपने अन्तर में ही कोई श्रम करें, जानकारी बनाएँ, अपने आत्मबल को दृढ़ कर लें, अपना ज्ञान सही बनाएँ तो यह उपाय व्यर्थ नहीं जाता । बाह्य पदार्थों में श्रम करना तो व्यर्थ है ।

**परचिन्ता की व्यर्थता—भैया !** तुम किसकी चिंता करते हो ? परिवार में जितने लोग सबके साथ उदय लगा है । तुम उनका पालन नहीं करते । उनका उदय, उस उदय के कारण तुम्हारे निमित्त से उनका पालन होता है । तुम तो निमित्त मात्र हो, तुम तो उन पुण्यवान् जीवों के सेवक मात्र हो । जिन स्त्री पुत्रों को आप बैठे-बैठे खिलाते हो और उनको प्रसन्न देखना चाहते हो आप बतलावो कि आपके पुण्य का उदय बड़ा है या उनका । उनका पुण्य बड़ा है? जिन्हें कोई श्रम नहीं करना है, जिनकी आप बड़ी फिकर करते हो । तो जिनका पुण्य बड़ा है उनकी आप चिंता क्यों करते हो ? उनका तो पुण्य ही बड़ा है, उनके पुण्य के अनुसार सब साधन जुटेंगे ही ।

**मोह में पर के भरणपोषण की मान्यता—एक कथानक है कि एक गरीब जोशी था जिसका कार्य यहाँ वहाँ के घरों से थोड़ा-थोड़ा अनाज मांग लाना और १० बजे इकट्ठा करके देना, तब जाकर रोटी बने और खाये । इतना वह गरीब था । एक साधु निकला और बोला—बेटा क्या कर रहे हो ? क्या कर रहा हूँ, आटा मांगने जा रहा हूँ क्योंकि आटा इकट्ठा करके अपने परिवार के लोगों का पालन करता हूँ । तो क्या इनको तुम खिलाते हो ? हाँ हाँ, जब हम मांग कर धरते हैं तब वे खाने को पाते हैं । साधु बोला कि तू नहीं**

खिलाता । तू मेरे साथ १५ दिन के लिए चल । वह सरलस्वभावी था सो उस साधु के संग में चल दिया । साधु ने कह दिया था कि यदि तेरा दिल मेरे संग में न लगे तो १५ दिन के बाद घर हो आना । सो अब उस दिन १० बजे तक वह न पहुंचा तो घर के लोग दुःखी हो गए । किसी मसखरे ने कह दिया उसे तो कोई जानवर उठा ले गया है, वह मर गया है । सारे गांव में खबर फैल गई । रोवा धोवा मच गया ।

पुण्योदय में पड़ोसियों द्वारा पूछ—थोड़ी देर बाद गांव के लोग सोचते हैं कि इस घर में ५-७ तो बचे हैं और केवल एक विधवा स्त्री रह गयी है । तो अब क्या करें? क्या अपन लोग भर पेट खायें और इसके परिवार के लोग भूखे रहें? यह तो हम सबसे कैसे देखा आ सकता है? तो जो अनाज वाले थे उन्होंने पांच सात अनाज के बोरे दे दिए, धी वालों ने धी के टीन दे दिए । शकर वालों ने शकर दे दिया, कपड़ा वालों ने कपड़े दे दिए । रोज-रोज कहां देंगे, कम से कम इतना तो सामान हो जाये कि एक साल तक का काम चल जाये । अब सब सामान आ गया । १०-१२ दिन के भीतर ही उनका रूप बदल गया । बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहिन लिए, पकौड़ी पकवान बनाकर खाने लगे । जब १५ दिन गुजर गए तो वह पुरुष कहता है कि घर देख आए कौन जिन्दा है, कौन मरा है? तो साधु कहता है कि अच्छा देख आवो, पर घर में एकदम न घुस जाना; छिपकर ही देखना ।

**मोह में मौज**—सो वह गया घर और पीछे से चढ़ गया । उसे छिपकर देखने का स्थान छत मिला । देखता है कि क्या हो रहा है । ये कैसे नये कपड़े पहिने हैं, कैसी कङ्गाही जल रही है? सब खुश हो रहे हैं । कैसा बढ़िया खा रहे हैं, इनका तो भाग्य जग गया । अब तो अच्छा है । ठीक रहा साधु के संग जाना । १५ दिन में तो इनका सारा ढंग ही बदल गया । सो एकदम खुशी से वह छत से कूदा । उन बच्चों से प्यार के शब्द बोलता है । यहाँ क्या होता है कि स्त्री ने बच्चों ने तो सुन ही रखा था कि वह गुजर गया । जब उस शकल से देखा तो उनको यह निश्चय हुआ कि यह भूत बनकर आया है । सो भूत को भगाने की भैया क्या प्रक्रिया है? अधजली लकड़ी? कंकड़ पत्थर मारना । सो उन बच्चों ने उनको अधजली लकड़ी तथा कंकड़ पत्थर आदि से मारकर भगा दिया । वह सोचता है कि क्या हाल है, मैं तो घर में आया हूँ और ये सब मुझे भगा रहे हैं । वहां से किसी तरह से जान बचाकर साधु महाराज के पास आया ।

**निज लाभ में सार**—वह जोशी बोला—महाराज घर के लोग ऐसा खुश हैं कि इतना खुश कभी अपने जीवन में नहीं हुए लेकिन जब मैं घर गया तो घर के सभी लोग अधजली लकड़ी कंकड़ पत्थर आदि लेकर मारने दौड़े । मैं किसी तरह से जान बचाकर आपके पास आया हूँ । साधु बोला कि यह सब स्वार्थ का संसार है । जब तक तुम से उनका कुछ स्वार्थ निकलता था तब तक तुम्हारी पूछ थी । अब जब उनका भाग्य जग गया तो कौन तुम्हारी पूछ करेगा । अब सो तुम्हारा सुख इसी में है कि मेरे साथ में रहो और अपनी योग्य तपस्या ज्ञान बढ़ाकर अपना जीवन सफल करो ।

**निज में परख**—तो आप सोचिये कि कौन किसको सुखी करता है और कौन किसको दुःखी करता है । सर्व जीवों के स्वयं कर्मों का उदय है, उसके वश आप उनकी सेवा करते हैं । तो ऐसी स्थिति में भी सच्चा ज्ञान जगावो । क्या आप दूसरों की सेवा करते हैं? नहीं करते हैं । आप तो केवल अपना परिणाम बनाते हैं,

भाव बनाते हैं। अपना भाव बनाने के अतिरिक्त यह जीव और कुछ करने में समर्थ नहीं है और कुछ तो उनके उदय के अनुसार स्वयमेव हो जाता है। ऐसा जानकर समस्त वस्तुओं की स्वतंत्रता पहचानो। मेरा दूसरा कुछ नहीं है, मैं दूसरे का कर्ता नहीं हूँ। मैं अपने आपका ही अधिकारी हूँ, मैं अपने भाव ही बनाता हूँ। जैसे भी बनाऊँ। इससे आगे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। जब यह भाव ज्ञान प्रकाश अपना आत्मा जगाता है तब वहाँ मोह नहीं रहता है।

**भववासी और प्रभु के अन्तर का कारण—भक्तामरस्तोत्र में एक काव्य है—‘को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ! दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वेः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥**

मुनि मानुङ्ग स्वामी भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि हे नाथ ! यदि तुम में सारे गुण भर गए तो इसमें कोई आश्रय नहीं है। ठीक है, ऐसा होना ही चाहिए था क्योंकि उन बेचारे गुणों को उस मनुष्य ने अपने में बैठने के लिए जगह नहीं दी इसलिए वे बेचारे गुण इधर-उधर भटकते रहे। उन इधर उधर भटकते हुए गुणों को आपने अपने में बैठने के लिए जगह दे दिया। संतोष, क्षमा सभी गुणों को तुमने अपने में जगह दे दी क्योंकि इस मनुष्य के पास जब ये सभी गुण पहुँचे तो इसने अपने में बैठने के लिए जगह नहीं दिया, ‘नो वैकेन्सी’ कहकर मानों उन्हें मना कर दिया। उन बेचारों को कहीं जगह न मिली तो भगवान के पास आकर उनमें सारे गुण इकट्ठे हो गए। इसमें क्या आश्रय की बात है ? इस मनुष्य ने दोषों को जगह दिया है। झूठ, छल, लोभ आदि को अपने में बैठा लिया तो बतावो कोई दोष भी प्रभु के पास फटका। गुणों को इसने जगह नहीं दिया है इसलिए ये सब गुण भगवान में चले गए। भैया ! जैसा गुणी भगवान है वैसा ही अपना स्वरूप है, पर अपना स्वरूप न देखने से बाहर अपना वैभव देखते हैं इसलिए दुःखी है। तो कर्तव्य यह है कि ज्ञान बढ़ायें। ज्ञान से ही आनन्द और शांति प्राप्त होगी। और सब कुछ पुण्य के उदय पर छोड़ दें।

**वस्तुस्वरूप से विरुद्ध जानकारी की क्लेशकारणता—जगत के जीवों की जो आकुलता बनी हुई है वह अज्ञान के कारण बनी है। पदार्थ है किसी भाँति और जानते हैं किसी भाँति इसलिए आकुलता होती है। आकुलता दूर करने के लिए ऋषिसंतों ने सर्वप्रथम यह बात कही है कि हम पदार्थों को सही-सही जानें तो आकुलता न होगी। जैसे धन, घर वैभव विनाशीक हैं, सदा रहने वाले नहीं हैं। पर जिस घर में जो मनुष्य रहते हैं उनका अपने धन में यह विश्वास है कि यह मेरा धन घर नष्ट न होगा। दूसरे के प्रति तो ख्याल करते कि इन लोगों के घर वैभव नष्ट होंगे और ऊपरी-ऊपरी अपने लिए भी कह देते हैं कि मेरे धन वैभव भी नष्ट होंगे, पर अन्तर में श्रद्धा करके वह नहीं सोचते कि ये समागम विनाशीक हैं, ये नष्ट होंगे। विनाशीक वस्तुओं को अविनाशी मानना आकुलता का कारण है। क्योंकि हम तो मान रहे हैं कि यह मेरी चीज है, मेरे साथ सदा रहेगी, और वह रहता है नहीं क्योंकि उसका तो जो स्वरूप है, जो प्रकृति है वह तो नहीं बदल सकती है।**

**स्वामित्वसम्बन्धी विरुद्धविचार का फल आकुलता—अच्छा यह बतलावों कि धन वैभव क्या आपका है?**

आपका नहीं है। यदि आपका होता तो सदा आपके पास रहता। वह तो आपसे अत्यन्त जुदा है, फिर भी आप मानें कि यह मेरा है तो यही मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञान से ही आकुलताएँ होती हैं। चाहे कितनी बड़ी विपत्ति आए, चाहे कितनी ही दरिद्रता या नाना प्रकार के कष्ट हों? यदि वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान है तो वह कष्ट न मालूम होगा। जीवों ने आकुलता मिथ्याज्ञान से लगा रखी है।

**पोजीशन के अहंकार का फल—देखिये भैया!** यह जीव अपने को मानता है कि मैं अमुक पोजीशन का अमुक देश का हूँ, अमुक जाति का हूँ—नाना प्रकार का अपने को मानता। पर यह तो बतलावों कि क्या मैं ऐसी पोजीशन का हूँ? क्या मैं मनुष्य हूँ? यह निर्णय पहिले करो। क्या आप मनुष्य हैं? मनुष्य तो हैं नहीं, किन्तु एक चेतन परमात्मतत्त्व हैं। मनुष्य होना तो एक पर्याय की बात है। यह जीव अनादि काल से अब तक अनन्त पर्यायें धारण करता चला आया है। वह तो अनेक बार मनुष्य हुआ है, अनेक बार पशु पक्षी हुआ है। यह मैं मनुष्य नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञाता दृष्टा चैतन्य द्रव्य हूँ। पर ऐसी सही श्रद्धा न करके उल्टा आश्रय कर लिया कि मैं मनुष्य हूँ। इसलिए मनुष्य के लायक श्रम करना पड़ेगा। मनुष्य के लायक कल्पना करनी पड़ेगी और कल्पना करके घर में रहते हुए कोई मनुष्य किसी कारण से यदि ऐसा मानता है कि मैं तो सबसे न्यारा हूँ, मुझे क्या पड़ी है दूसरों की? मैं तो सबसे पृथक् स्वतंत्र सत्ता वाला हूँ। ऐसा सोचने से आकुलताएँ कम हो जाती हैं, और जो जानता है कि मैं इतनी पोजीशन वाला हूँ, मैं इतने पुत्रों वाला हूँ तो उनको खिलाने पिलाने उनकी रक्षा करने में कष्ट करना पड़ता है।

**आत्मा के यथार्थ ज्ञान बिना शान्ति असंभव—भैया!** संसार में दुःख केवल यही है कि जो जैसा पदार्थ है उसको वैसा नहीं मानते। यह मैं आत्मा कैसा हूँ? इसका सहज निर्णय किए बिना मुक्ति का मार्ग न मिलेगा। हम रोज-रोज पूजा में विनती पढ़ जाया करते हैं कि हे प्रभु! मुझे मुक्ति चाहिए। हमारा हृदय आपके चरणों में तब तक रहे जब तक कि मुझे मुक्ति न मिल जाये। इस तरह से विनती में बोल भी जाते हैं, पर मुक्ति मिलेगी कैसे, मोक्ष किसे दिलाना है? पहिले यह तो निर्णय करो। अपना नाम लेकर बोलो—क्या इस नाम वाले को मोक्ष कराना है? नहीं। यह नाम वाला तो विनाशक है, माया रूप है यह असत् पदार्थ है। स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। तो किसका मोक्ष कराना है? जिसका हमें मोक्ष कराना है उसे जब तक हम न जानें तो फिर किसे मुक्ति दिलाएँ? जैसे किसी को भोजन कराना है तो जब यही मालूम नहीं है कि किसे भोजन कराना है तो किसे भोजन करायें?

**निज की मुक्ति व उपाय—मुक्ति कराना है इस चैतन्य पदार्थ की।** यह मैं आत्मा आकाशवत् निर्लेप प्रतिभास मात्र हूँ इसमें रागद्वेष नहीं है, मैं जाननहार केवल हूँ। यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण परवस्तुवों की ओर दृष्टि लगाकर अपने को नाना रूप मानता हूँ। और इसी कारण नाना जन्म मरण करने पड़ते हैं। तो मैं अपने आत्मा के वास्तविक रूप को जान जाऊँ कि मैं केवल प्रतिभासमात्र एक स्वतंत्र सत् हूँ, जिसका किसी अन्य से कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा जान भर जाऊँ तो लो मुक्ति का मार्ग मिलता है। गृहस्थ हो तो क्या, साधु हो तो क्या, आत्मा का पूरा पड़ेगा इस यथार्थ ज्ञान से ही। इन विनश्वर पदार्थों के समागम से मेरा हित न होगा। अपने आपके स्वरूप का यथार्थ विश्वास रखें। शुद्ध दृष्टि

होने से ही अपना हित है। कितने ही संकट में यह जीव पड़ा हो पर भीतर में अपनी सही दृष्टि रखे तो वह संकटों से शीघ्र ही दूर हो जाता है। कल्याण का मार्ग मिलता है।

**हितार्थ करने योग्य काम—भैया !** करने योग्य काम अपने आपके आत्मा का सच्चा ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष अपने आपको रागद्वेषरूप नहीं मानता। अपने आपके कारण उसमें रागद्वेष नहीं होते। कर्मों के उदय के निमित्त से ये रागद्वेष होते हैं। यह मैं हूँ ही नहीं तब रागों से मुझे राग नहीं रहता है। तो यह राग कब तक पनपता रहेगा जब तक कि घर के कुटुम्ब के लोगों से प्रीति है। यदि उनसे प्रीति छूट जाये तो राग छूट जायेगा। जिस मित्र से आपका लगाव नहीं रहा वह कब तक तुम्हारे पीछे पड़ेगा? इसी प्रकार ये रागादिक भाव जो इस जीव के अज्ञान के कारण कर्मों का निमित्त पाकर होते चले आए हैं। जब इसमें राग न रहेगा तो यह राग कब तक सतायेगा? प्रभु का दर्शन तब सफल है जब कि वह मार्ग दिख जाये जिस मार्ग से चलकर यह हुआ है। वह वीतराग प्रभु ही सच्चा देव है। पुण्य की बातें तो दान से भी हो सकती हैं, दया परोपकार आदि से हो सकती हैं, पर प्रभु के दर्शन का फल तो मुक्ति का मार्ग दिखाना है। दर्शन करके यदि कुछ पुण्य कमा लिया तो उससे क्या होगा? दर्शन का लाभ तो मुक्ति का मार्ग मिलना है।

**प्रभु का कृतकार्यक्रम—प्रभु ने क्या किया था?** सर्वप्रथम अपने स्वरूप का निर्णय किया था। यह मैं आत्मा एक ज्ञानस्वरूप हूँ, इस निर्णय के कारण जो उस आत्मा में विषय-कषायों के भाव उत्पन्न हुए थे उनसे उपेक्षा हो गयी अर्थात् मोह जीत लिया गया। इस मोह के जीतने के प्रसाद से उनका रागद्वेष मिट गया। रागद्वेष मिटने के कारण उनके केवलज्ञान हुआ।

**उपद्रवों की खान राग—राग में कुछ नहीं रखा है।** राग करने से तो अपना विकास रुका हुआ है। कैसा ही कोई घर में प्रिय हो स्त्री अथवा पुत्र, कोई भी जो आपको प्रिय हो, ऐसा प्रिय बनाना आपके लिए संकट है। भले ही प्रेम में अपने में संकट का अनुभव न करें पर संकट अवश्य है। यदि किसी से प्रीति न हो तो फिर कोई कष्ट न होगा। जिससे प्रीति उसके नाश होने पर बुद्धि ठिकाने नहीं रहती है। फिर विवेक की बात यह नहीं है कि किसी पदार्थ में राग बढ़ाया जाये। राग बढ़ाना ज्ञानीपुरुष का कर्तव्य नहीं है। ज्ञानी जीव अपने को रागद्वेष मोह रूप नहीं मानता। वह तो अपने सही स्वरूप को जानता है। वह ज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध स्वभाव से नहीं चिगता है और जो अपने शुद्ध स्वभाव से चिगा हुआ रहता है वह परपदार्थों में राग करने लगता है। यह जीव रागद्वेष मोह रूप स्वयं नहीं परिणमता और जब स्वयं नहीं परिणमता और ज्ञान हो गया तो दूसरे के द्वारा भी रागरूप नहीं परिणमता।

**ज्ञानी की अविचलितता—भगवान रामचन्द्र जी जब तपस्या कर रहे थे तो उनको सीताजी का प्रतीन्द्र सोलह स्वर्ग से आकर रामचन्द्रजी को डिगाने की कोशिश करने लगा कि यह भगवान राम अभी मोक्ष न जायें और फिर दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे।** ऐसा करना क्या किसी के हाथ की बात है? डिगाने की कोशिश की, बहुत हावभाव दिखाया, बहुत ही चतुरायी दिखाने की कोशिश की, पर भगवान रामचन्द्र जी अपने शुद्ध ब्रह्म की दृष्टि से विचलित न हुए। फिर ऐसा रूपक दिखाया कि सीता जी के केशों को पकड़कर रावण खींच रहा है ताकि रामचन्द्र जी अपने ज्ञान से चिग जाये पर नहीं चिगे। जो ज्ञानी जीव हैं वे अपने

शुद्ध स्वभाव से स्वयं नहीं चिंगते और दूसरों के द्वारा भी रागदिक रूप नहीं परिणमते ।

**अज्ञान में आकुलता की कारणता**—यह ज्ञानी टंकोत्कीर्णवत् निश्ल ज्ञानस्वभाव वाला है । वह रागद्वेष मोह भावों का कर्ता नहीं है । हम अपने को इस दुनिया का मालिक मानते हैं । और कर्ता मानते हैं ये दो भूल इस अज्ञानी जीव में पड़ी हुई है । अरे तुम किसके मालिक हो ? किसी परवस्तु पर तुम्हारा अधिकार भी है क्या ? जिस पदार्थ को तुम अपना मानते हो वह पदार्थ तुम्हारी इच्छा के अनुकूल परिणमेगा क्या? नहीं परिणम सकता है । कोई किसी पर का अधिकारी नहीं है, मालिक नहीं है । फिर भी यह मानना कि मैं अमुक पदार्थ का मालिक हू, बस यही खोटा ज्ञान है । यह किसी पर का करने वाला नहीं है, फिर भी अपने को पर का कर्ता मानता है, यह मान्यता तो आकुलतावों की ही मूलक है ।

**स्वाध्यायविधि**—इस जीव को संसार की आकुलतावों से बचाने में समर्थ सम्यग्ज्ञान है । अनेक यत्न करके इस सम्यग्ज्ञान की उपासना करो । स्वाध्याय करके उपासना करो, पर स्वाध्याय होना चाहिए विवेकपूर्वक । जो ग्रन्थ अपनी समझ में आयें उन ग्रन्थों का स्वाध्याय करो । जिस ग्रन्थ का स्वाध्याय करो उसका ही स्वाध्याय करो जब तक कि ग्रन्थ पूर्ण न हो जाये । आज कोई ग्रन्थ उठा लिया कल कोई ग्रन्थ उठा लिया, यह ज्ञानवृद्धि का तरीका नहीं है । जिस ग्रन्थ का स्वाध्याय शुरू करो उसी का स्वाध्याय अंत तक कर लो । उसके बाद कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि वही ग्रन्थ दुबारा फिर पढ़ लो । एक बार पढ़ लेने के बाद दुबारा पढ़ने से सभी बातें स्पष्ट समझ में आती रहती हैं । स्वाध्याय करने के साथ ही दो नोटबुक रखनी चाहिए । एक नोटबुक में जहाँ जो समझ में न आया उसे नोट कर लिया और एक नोटबुक में जो बात बहुत ही आत्मा को छूती है, जिससे शांति और संतोष मिलता है उस बात को नोट कर लिया । इस तरह से शुरू से अंत तक उसी ग्रन्थ का स्वाध्याय कर लेने से ज्ञान में वृद्धि होती है ।

**शांति का उपाय सम्यग्ज्ञान**—शांति संतोष मिलने का उपाय है सम्यग्ज्ञान । अच्छा यह बतलावों कि धन वैभव से क्या शांति आ सकती है ? नहीं आ सकती है । यदि धन वैभव वाले लोग भी शांति प्राप्त करते हैं तो समझिये कि अपने ज्ञान बल से ही वे शांति और संतोष प्राप्त करते हैं, धन वैभव से शांति और संतोष नहीं प्राप्त करते हैं । यदि धन वैभव से शांति होती तो त्याग किसलिए किया जाता है ? बड़े-बड़े तीर्थकरों ने ६-६ खण्ड की विभूति में लात मार कर किसलिए वीतराग निर्विकल्प अवस्था को धारण किया? स्वतंत्रता के अनुभव में जो आनन्द है वह परतंत्रता के अनुभव में नहीं है । ज्ञानीपुरुष अपने को स्वतंत्र निरखते हैं । यह मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, अपने आपके ही भावों का मैं भोक्ता हूँ—ऐसा वस्तु के स्वभाव का जानने वाला ज्ञानी पुरुष आकुलित नहीं होता है ।

**वस्तुविज्ञान पर भवितव्य की निर्माता**—जिन्हें वस्तु के स्वरूप की खबर नहीं है वे अज्ञानीजन वस्तु के स्वभाव को नहीं जान पाते हैं । इस कारण अपने को नानारूप बना डालते हैं और जब अपने को नानारूप बनाते हैं तो आकुलित होते हैं । ऐसा जानकर हम जो भी कार्य करें, पूजा, ध्यान, सत्संग, गुरुपासना, दया, दान इस सब क्रियावों के बीच में हम यह सही ज्ञान रखें कि इसमें केवल मैं अपने भाव ही कर पाता हूँ अन्य बातें मैं नहीं कर सकता । ऐसा शुद्ध ज्ञान रहेगा तो रागद्वेष न सतायेंगे और पर को अपनाने का भाव

रहेगा तो रागद्वेष सतावेंगे । दूसरी बात यह है कि गृहस्थों को तीन पुरुषार्थों का काम पड़ता हैं—धर्म करना, धन कमाना, सबका पालन पोषण करना । तो साथ में यह भी ध्यान रखें कि पालन पोषण उनका हम नहीं करते । उनका जैसा उदय है उस उदय के अनुकूल उनका पालन होता है । इसलिए अपने चित्त में ऐसा भार महसूस करना कि मेरे घर में इतने पुरुष, स्त्री, बालक बालिकाएँ हैं, इन सबका भार मुझ पर है । और उनका भार तुम पर नहीं है । उनका भी उनके अनुकूल उदय है । इस कारण तू निमित्त बनता है उनके पालन पोषण में । इस कारण इस भार को दूर करना, अपने को निर्भार अनुभव करना और कर्तव्य करना ।

**सबका उदय**—धन कमाना क्या हाथ पैरों के श्रम का फल है या कोई दिमाग का काम है ? धन तो पुण्योदय से थोड़े से ही श्रम से अपने को प्राप्त होता है । यदि उदय अनुकूल नहीं तो कितना ही श्रम करते जावो धन प्राप्त नहीं होता है । कोई स्त्री दूसरे के आभूषण तथा वस्त्र वगैरह नहीं देख पाती, कोई दूसरे का ठलुवा नहीं देख सकती है । मैं यह करती हूं, यह नहीं करती है, इस तरह परस्पर में अनबन भी हो जाती है । किन्तु सोचो तो जरा—क्या ये समागम सदा रहेंगे ? क्या दूसरे का भाग्य हम खरीद सकते हैं ? क्या हम दूसरे को परेशान कर सकते हैं ? क्या हम दूसरे को सुखी दुःखी कर सकते हैं ? उदय है दूसरों का सो चलता है । तो जिसका जैसा उदय हो उसके अनुसार चलता है चलने दो । हम उसके साधक नहीं होते, बाधक नहीं होते ।

**स्वात्मचिन्ता**—भैया ! हम अपनी फिकर करें, दूसरों की क्या फिकर करें ? इन कर्मों के बंधन में फँसा हुआ हूँ । इस कारण मैं स्वयं दुर्गति का पात्र हूँ । दूसरों पर क्यों दृष्टि देते हो ? खुद तो गड्ढे में पड़े हुए है, अज्ञान में बसे हैं, परिणामों में शुद्धता नहीं आती, खुद तो ऐसी विकट परिस्थिति में हैं और दूसरे को नाना प्रकार के दोषों से युक्त देख रहे हैं, दूसरों के ऐब निकाल रहे हैं, दूसरों से ईर्ष्या कर रहे हैं—इन बातों से क्या मिलेगा अपने को । अपने आपकी संभाल करें तो उस संभाल में अपना भी भला है और दूसरों का भी भला है । लेकिन पर की दृष्टि में न अपना भला हो पाता, न किसी पर का भला हो पाता । सो समता परिणाम करिये । जितनी अपनी शक्ति हो, जितना अपना ध्यान बन सके उतनी समता रखिए ।

**परचिन्ता की व्यर्थता**—भैया ! किसी पर रागद्वेष करने से दूसरे का कुछ न बन गया, न बिगड़ गया किन्तु खुद का बिगड़ हो गया । इसलिए रागद्वेषों पर विजय हो, विषय कषाय न सता सके, किसी दूसरे का विरोध रखने का परिणाम न बने तो वह प्रवृत्ति अपने आपके कल्याण की साधक होगी और अपने आपकी संभाल न कर सके तो बाह्यपदार्थों का कुछ भी ख्याल बनाए रहे उससे उत्थान न होगा । ज्ञान के समान इस जगत में सुख का कारण दूसरा कुछ नहीं है क्योंकि आनन्द का सम्बन्ध ज्ञान के साथ है, धन के साथ आनन्द का सम्बन्ध नहीं है । जैसा ज्ञान होगा वैसा ही आनंद भी प्राप्त होगा । हम जरा-जरा सी बातों में दुःखी हो जाते हैं । उस दुःख को करने वाला कोई दूसरा नहीं है । मैं ही अपने ज्ञान से इस जाति की कल्पनाएं बना डालता हूं कि ज्ञान में से दुःख के अंगारे फूटा करते हैं । दूसरे को कोई दुःखी नहीं करता । मैं ही अपने ज्ञान से ऐसी कल्पनाएं बनता हूं कि दुःखी होता रहता हूँ । अपने ज्ञान की संभाल हो जाये तो दुःख नहीं हो सकता है ।

ज्ञान की संभाल—भैया ! ज्ञान की संभाल यही है कि जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा मानें । धन वैभव विनाशीक है, विनाशीक मानें । धन वैभव मेरा नहीं है तो उसे अपने से भिन्न ही जानें । रागद्वेष मोह का परिणाम मेरी बरबादी के लिए ही उत्पन्न होता है, ऐसा जानकर उस रागद्वेष मोह से उपेक्षा करें । मेरे लिए शरण मात्र मैं ही हूँ—ऐसा जानकर मात्र अपने शुद्धस्वरूप का शरण ग्रहण करें । ये बाह्यसमागम तो क्लेश ही उत्पन्न करने के कारण हैं, ऐसा जानकर इन सबसे अपनी लगन हटाएं । जैसा अपना स्वरूप है वैसा ही अपने में ज्ञान जगे तो आनन्द हो सकता है । धन वैभव की रंच परवाह न करें कि मेरे पास धन वैभव कम है । इससे भी धन वैभव कम हो तो भी बहुत है । इस सम्पत्ति से हित नहीं है । हित है तो अपने सम्यग्ज्ञान के परिणाम से । चिंता की क्या बात है ? खुद का प्रभु खुद ही निगाह में यदि है तो वहाँ फिक्र की कोई बात नहीं है । अपने ज्ञान की संभाल नहीं है तो जगह-जगह विपत्तियां ही मिलती हैं । इस कारण अनेक प्रयत्न करके एक अपने आत्मा का यथार्थ निर्णय करें ।

## गाथा २८१

रायम्हि दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।

तेहिं दु परिणमंतो रायार्द्द बंधदि पुणोवि ॥२८१॥

**भावीबन्धनकर्ता रागशय**—यह जीव कर्मों को कैसे बांधता है और अपने रागादिक विभावों को कैसे करता ? इसका वर्णन इस गाथा में है । इस जीव ने पहिले रागद्वेष मोह करके जो कर्म बांधे थे वे कर्म जब उदय में आते हैं तो उनके उदय का निमित्त मात्र पाकर यह जीव अपने परिणमन से रागादिकरूप परिणम जाता है, क्यों परिणम जाता है कि इस जीव को वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप की खबर नहीं है । प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपना चतुष्टय लिए हुए है । एक आत्मा अपने ही प्रदेश में रहता है, अपने ही गुणों में तन्मय है, अपनी ही परिणति से परिणमता है । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से है, पर इसकी याद नहीं रखते और उल्टा धारणा बना लेते हैं कि मैं घर में हूँ, इस लोक में रहता हूँ, यह ही मेरा धन वैभव है । इससे ही मेरा सुधार है । इस तरह से यह जीव पर की ओर उन्मुख होता है और पर की उन्मुखता के कारण मैं रागरूप हूँ, इस प्रकार अभेदभाव से अपने को रागादिक रूप मान करके जो परिणमन होता वह फिर भी भावी काल में जो रागादिक परिणाम को उत्पन्न कर सके ऐसे द्रव्यकर्म को बांधता है । जैसे यहाँ कोई पुरुष मैं पुत्र वाला हूँ ऐसा अभेदरूप भाव करता है तो वह ऐसा राग प्रकट करता है जो राग आगामीकाल में भी राग उत्पन्न करने का कारण है ।

**असंस्कृत राग का उदाहरण**—जैसे सफर में जा रहे हैं, अपना भी सामान अपने पास है और दूसरा मुसाफिर भी वहाँ बैठा है डिब्बे में, उसका भी सामान यहीं रखा है पर इसे अपने ट्रक्क में आत्मीयता है, इस आत्मीयता के कारण वह ऐसा राग करता है कि आगामी काल में भी तत्सम्बन्धी राग रहेगा और कदाचित् कोई मुसाफिर थोड़ी बात करके आपकी निगरानी में अपना सामान छोड़ जाये और वह प्लेटफार्म पर पानी पीने चला जाये उसकी टोंटी देखने का राग है या नहीं है ? कोई उसमें हाथ लगाये तो वह कहेगा कि भाई

इसे न छुवो, यह दूसरे का सामान है । राग थोड़ा जरूर है, पर वह राग भावी काल में आगामी समय में राग को पैदा करे ऐसा राग नहीं है । थोड़ी देर के लिए है । जब वह मुसाफिर आ गया तो उसमें रंच भी राग का संस्कार नहीं रहता ।

**ज्ञानी का असंस्कृत राग**—इसी तरह जो सम्यग्विष्टि जीव है उसको जो विषयभोगों के साधन मिले हैं उनमें इसका राग तो है पर ऐसा राग नहीं है जो आगामी समय के लिए भी राग बांधे । उसकी यह बुद्धि नहीं होती कि मैं ऐसा ही भोग जीवन भर भोगता रहूँ । वह तो यह चाहता है कि कब वह समय आए कि इस भावी विपत्ति से छूट जाऊँ? किन्तु अज्ञानी जीव को इस प्रकार का राग है कि उस चीज को वर्तमान में भी नहीं छोड़ सकता और आगामी समय के लिए भी राग बांधेगा ।

अन्तरङ्ग में वैराग्य होने पर भी बाह्य में रागप्रवृत्ति —जैसे एक कोई धनिक रोगी हो गया, डाक्टर इलाज करता है, वह दवाएं बड़े प्रेम से पीता है । उस रोगी को औषधि में राग है या नहीं है? राग है । यदि दवा समय पर न मिले तो वह झुँझला जाता है । तो उसे दवा से प्रेम है या नहीं? है । डाक्टर से प्रेमपूर्वक दवा खाने के लिए पूछ रहा है । कब-कब दवा खायी जायेगी, किस-किस चीज में मिलाकर खायी जायेगी? बड़े प्रेम से पूछ रहा है, पर साथ ही साथ यह भी पूछता जा रहा है कि यह दवा कब तक खानी पड़ेगी । उसके वर्तमान भावों में दो प्रकार की बातें पड़ी हुई हैं । दवा पीने का राग भी पड़ा हुआ है और यह दवा कब छूटे ऐसा मन में भाव भी पड़ा हुआ है । इसी प्रकार ज्ञानीजीव विषयभोगों में पड़ा हुआ है फिर भी वह उनसे छूटा हुआ है । उनमें जुटना उसका क्षणमात्र के लिए है । वह अन्तर में यह भावना रखता है कि ये विषय भोग कब छूटें? किन्तु अज्ञानी जीव रागरूप परिणमता है, वह जानता है कि मैं रागरूप हूँ इस कारण यह ऐसे कर्मों को बांधता है कि आगामी काल में भी उसे राग करना होगा । यह परम्परा जन्म मरण में ले जाने वाली होती है ।

हित और अहित की एक एक बात—भैया! हित और अहित की ये ही दो बातें हैं और अधिक नहीं जानना है । अहित की बात यह है कि जिस पर्यायरूप हूँ, जिस परिणमन में चल रहा हूँ, मैं यह ही हूँ, इससे परे और कुछ नहीं हूँ, यह श्रद्धा होती है तो पर्याय में रुलना पड़ता है और जिसमें यह प्रत्यय है कि मैं न मनुष्य हूँ, न राग-द्वेषादि परिणाम हूँ, किन्तु मैं एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा जिसके भाव रहता है वह पुरुष अपने आत्मा को पाता है और मोक्षमार्ग में लगता है । भीतर के इतने से निर्णय में संसार और मोक्ष का फैसला है । भीतर में अपने आत्मस्वरूप को तजकर जहाँ यह माना कि मैं अमुक-अमुक हूँ, बस फैसला हो चुका । संसार में जन्म मरण करना होगा और जिसने जिस समय उपासना से भिन्न ज्ञानमय अपने आपका भाव किया है बस फैसला हो चुका, उसका मोक्ष जरूर होगा । जो चीज लूट जाने वाली है उस चीज से प्रीति नहीं तजी जा रही है यहीं तो बड़ी मलिनता है ।

**आत्मस्पर्श में सगुनपना**—सभी भाइयों को जो-जो कुछ मिला है वैसे भी चीजें कभी न कभी बिछुड़ जायेंगी । क्यों जी यह बात सही है ना । सही है । असगुन की बात नहीं कह रहे हैं । आप लोग मानेंगे कि यह असगुन की बात कह रहे हैं कि जो चीजें मिली हैं, वे कभी न कभी बिछुड़ जायेगी । यह सगुन की बात

कह रहे हैं। सगुन वह कहलाता है जिस बात के बोलने से अपने आत्मा का पता पड़े। जिस चीज के देखने से अपने आत्मा का पता पड़े उसका नाम सगुन है और जिसके निरखने से अपना पता न पड़े और अज्ञान अंधकार में उलझे रहे उसका नाम असगुन है। कभी सुना होगा कि गली में से कोई मुर्दा जाता हुआ दिख जाये तो उसे सगुन मानते हैं या असगुन। उस मुर्दे का दिख जाना सगुन है। वह कार्य सिद्धि का सूचक है। तो उसे सगुन क्यों माना? क्या बात उसमें है जो वह सगुन बन जाता है? उसके सगुन बनने का कारण यह है कि उसको देख कर एक बार तो मन में परिणाम आवेगा ही कि संसार असार है। यों ही मर जाना पड़ता है, यहाँ कोई तत्त्व नहीं है। सब कुछ छोड़ जाना होगा और इन भावनाओं के साथ अपने आत्मकल्याण का भी क्षण भर को पता होता है वह मुर्दा आत्मा की याद दिलाता है इसलिए सगुन है।

**स्वभावदृष्टि** में समृद्धि—यहाँ सगुन की बात कह रहे कि जगत में जो कुछ समागम मिले हैं वे सब कभी न कभी बिछुड़ जायेंगे। यह हंस आत्मा अकेला यहाँ से जायेगा। आगे अकेला जायेगा इतना ही नहीं किन्तु वर्तमान में भी यह आत्मा केवल अकेला ही है। इस अकेले अपने आपके स्वरूप को देखो और भी ज्यादा अकेला अपने आपके स्वरूप को देखो। ऐसा अकेला देखो कि मुझमें न कर्मों का सम्बन्ध है, न शरीर का सम्बन्ध है, न रागादिक मलिनताओं का भाव है, मुझमें तो एक ज्ञायक स्वभाव है, ऐसे ज्ञायकस्वभावमात्र अपने आपका यदि निर्णय करो तो संसार के संकटों से छूट सकते हो। १०-२० वर्ष तक घर, धन वैभव से राग किया। अंत तक तो निभेगा नहीं, यदि कोई इस जीवन में ही कुछ समय राग से दूर रह सके तो भला है और राग से दूर न भी रह सके तो कम से कम गलती तो अपनी मानता रहे कि मैं जो राग कर रहा हूँ, यह मेरी त्रुटि है। तो भी वह शांति के मार्ग में लगा हुआ है।

**अन्तरंग का निर्णय**—यहाँ बात कही जा रही है सही अपने कल्याण की बात। जिस जीव की पाप कार्यों में प्रवृत्ति हो रही हो और उसमें मन लगाये हो और कहे कि मैं गलती मानता हूँ कि यह पाप कर रहा हूँ, मेरी गलती है, उसका कहना झूठ है। भीतर में किसी व्यवस्था के कारण पाप करना पड़ रहा हो और अंतर में ग्लानि हो तो उसे यह कहने का अधिकार है कि मैं गलती कर रहा हूँ, पर जो प्रसन्नता के साथ मन को एकदम बेलगाम छोड़कर पाप कार्यों में लगाता हो और चूँकि ग्रन्थों में सुन रखा है कि चारित्रमोहनीय का उदय होता है सो उसका बहाना लेकर वह दुनिया को अपनी सञ्चनता दिखाये तो वह डबल पाप करता है। यह फैसला तो अपना आत्मा ही जान सकता है, दूसरा दूसरे के हृदय की बात को नहीं जान सकता है। या जो भगवान सर्वज्ञ है, वह उसकी पर्याय को जानता है या जो विशिष्ट अवधिज्ञानी जीव है वे अवधिज्ञान से कर्मों की क्षयोपशमिक अवस्था को **निरख** कर अनुमान से जानते हैं कि इसका परिणाम शुद्ध है।

**पर्यायबुद्धि**—इस जीव की सबसे बड़ी गलती यही है कि जिस अवस्था में यह होता है उस अवस्थारूप ही यह अपने को मानने लगता है। सबसे बड़ी गलती है यह कि यह जीव वस्तु के स्वभाव को नहीं जानता, वह अज्ञानी होता हुआ अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत बना हुआ है। कबसे? जबसे यह संसार चला आ रहा है। अनादिकाल से यह जीव वस्तु के स्वरूप की पहिचान न करके अज्ञानी होकर अपने ज्ञायकस्वभाव के उपयोग से हीन हो रहा है। जब कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए रागद्वेष मोहादिक भावों के द्वारा परिणमता हुआ

यह अज्ञानी जीव रागद्वेष मोह आदिक भावों का कर्ता होता है और फिर भी कर्मों को बांध लेता है ।

**बंध के दो कारण—**बंध के दो ही कारण है, पर को आपा मानना, पर को अपना मानना अर्थात् अहंबुद्धि और ममबुद्धि । मैं शरीर हूँ – ऐसा मानना अज्ञान है और शरीर मेरा है ऐसा मानना भी अज्ञान । पर बहुत अधिक अज्ञान इन दोनों में से क्या है बता सकते हो? शरीर मैं हूँ ऐसा मानना बहुत बड़ा अज्ञान है या शरीर मेरा है ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है । शरीर मैं हूँ ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है । शरीर मेरा है, यह मानना दूसरे दर्जे का अज्ञान है । अच्छा बतलावो मकान मैं हूँ, ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है या मकान मेरा है ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है? कोई जरा बोलकर देखे कि यह मकान मैं हूँ । ऐसा कोई कहे तो आप उसे बेवकूफ समझेंगे कि नहीं और मकान मेरा है ऐसा कोई कहे तो उसे बेवकूफ न कहेंगे । अज्ञान दोनों हैं क्योंकि मकान मेरा नहीं, है, छोड़कर जाना होगा । फिर भी कह रहे हैं इसलिए अज्ञान तो है पर मकानरूप परपदार्थ यह मैं हूँ ऐसा मानना बहुत बड़ा अज्ञान है ।

**शरीर में अज्ञानभाव—**शरीर मेरा है, ऐसा मानना भी अज्ञान है पर इसमें इतना तो ख्याल रहा कि मैं और कुछ हूँ और शरीर मेरा है इतना ध्यान तो रहा, पर शरीर मैं हूँ ऐसा मानने में अपने आपका तो ध्यान ही कुछ न रहा । यह अमूर्त ज्ञानमय आत्मा हमारा है ऐसा उसे रंच बोध नहीं रहा । तो यह मोह मिथ्यात्व है, अज्ञान है । यह जीव रागादिकरूप परिणमता है, अपने को रागादिक रूप मानता है । घर में देवरानी, जेठानी अथवा सास बहु में लड़ाई हो जाया करती है । उनके मूल में क्या दोष छिपा कि वे मानती हैं कि मैं सास हूँ, मैं जेठानी हूँ, ऐसी बुद्धि उनमें घुसी है तब जाकर विवाद हुआ और यदि वे यह मानें कि मैं सास नहीं हूँ, मैं जेठानी नहीं हूँ, मैं तो एक आत्मा हूँ जो संसार में आज तक रुलता फिर रहा हूँ, इस पर्याय में, तो देखो उनके विवाद में कमी आ जायेगी या न आ जायेगी ।

**राग व मोह में अन्तर—**तो अपने को पररूप मानने का परिणाम महान् मिथ्यात्व है और यह भी मिथ्यात्व भाव है कि अपने को शुद्ध आत्मा न जान सकें और ये रागादिक मेरे हैं ऐसा सम्बन्ध बनाकर परिणमें तो यह नवीन द्रव्य कर्मों को बांधता है । मोह और राग दो चीजें होती हैं लेकिन जल्दी-जल्दी में लोग ऐसा कह बैठते हैं कि उसी का नाम राग है और उसी का नाम मोह है । राग और मोह को लोग एक ही बात समझते हैं । उसने मुझसे राग किया, उसने मुझसे मोह किया, इस तरह से राग और मोह को एक ही समझते हैं पर इन दोनों में कितना बड़ा अन्तर है? मोह तो अज्ञानी जीव के ही पाया जा सकता है और राग कभी ज्ञानीजीव के भी होता है । अज्ञानी के राग तो होता ही है । राग और मोह में इतना महान् अन्तर है । जैसे आप लोगों से हम प्रीतिपूर्वक बातें भी करते हैं, राग भी करते हैं, राग न होता तो हम यहाँ क्यों ठहरते? जाने का प्रोग्राम था इतना ठहर गये तो इसमें राग ही कारण है । हम आप लोगों को सुनाते हैं इसमें राग कारण है ना । पर यह बतलावो हममें राग ही है या तुम सबसे मोह भी है? मोह नहीं है । सिर्फ राग है ।

**मोह बिना राग—**दूसरी बात तुम्हारा हम पर राग है । राग न होता तो कैसे हमें और रुकने के लिए कहते? तुम लोग हमारे चले जाने से कुछ कष्ट-सा मानते और रुक जाने से कुछ हर्ष-सा अनुभव करते हो ।

तो तुम्हारा सबका हम पर राग है, मोह नहीं है । अच्छा बतलावो तुम सब लोगों का हम पर मोह है क्या ? नहीं है मोह। हां राग अवश्य है । हां ये हमारे साधु हैं, क्षुल्लक हैं, त्यागी हैं, इस प्रकार का राग तुम सबके पड़ा हुआ है, पर ऐसा मोह नहीं है जैसा कि अपने घर के बच्चों से मोह करते हो । जैसा मोह आपका अपने घर के बच्चों के साथ पड़ा हुआ है ऐसा मोह हमारे साथ आप सब लोगों का नहीं है ।

राग और मोह के अन्तर का एक उदाहरण—राग और मोह का अन्तर देखो कि हिरण जंगल में घास खाता है और जरासी पत्तों की खड़खड़ाहट सुनाई पड़े तो तुरन्त चौकन्ना होकर खड़ा हो जाता है और भैया बिलाव का भोजन क्या है ? चूहे आदिक । उस बिलाव ने अगर किसी चूहे को पकड़ लिया है तो उसके सामने चाहे दूध रखा हो पर उस दूध को वह नहीं छूता है । जब उस बिलाव ने चूहे को पकड़ लिया तो आप चाहे उसे डंडों से मारें फिर भी वह उसे नहीं छोड़ता है । इतना अधिक उससे मोह हो जाता है । यह है मोह और राग में अन्तर । मोह घनिष्ठ होता है पर राग इतना घनिष्ठ नहीं होता है । तो यह जीव अपने को रागरूप मानता है और इसी कारण फिर भी कर्मों से बँधता है, इसी कारण जो बँधना न चाहें वे राग और मोह को त्याग दें ।

## गाथा २८२

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मम्हि चेव जे भावा ।

तेहिं दु परिणमंतो रायादी बंधदे चेदा ॥२८२॥

अज्ञानमय परिणाम—जो जीव अज्ञानी है, शरीर से भिन्न अपने आपका जिन्हें पता नहीं है उन पुरुषों के कर्मों के उदय के कारण रागद्वेष मोह के परिणाम होते हैं । वे रागद्वेष मोह के परिणाम फिर पुद्गल कर्म के बंध के कारण होते हैं । पुद्गलकर्म फिर आगामीकाल में रागद्वेष मोह पैदा करने के निमित्त होते हैं । जीव में गलती यह है कि वह रागद्वेष मोह परिणाम करता है । रागद्वेष न करना ही धर्म है । रागद्वेष ही अर्धर्म है । रागद्वेष न हों और एक ज्ञान का अपना ख्याल हो तो वही धर्म है । अपने धर्म की मनुष्य बहुत कम फिक्र रखते हैं और घर गृहस्थी मोह ममता रागद्वेष इनका बड़ा ध्यान रखते हैं, अपने आपके इस आत्मा का वे ध्यान नहीं रखते । सो जितने ये परिणाम है अज्ञानी जीव के ये सब दुःखों को देने वाले हैं ।

अज्ञानभाव से ही दुःखरूपता—इन जीवों को दुःख और किस चौज का है सो बतलावो ? दुःख है तो रागद्वेष मोह का है । अब दूसरे जीव से लेना देना कुछ है नहीं, सब अपने-अपने स्वरूप से है । किसी से कुछ सम्बन्ध तो है नहीं । मगर मोह परिणाम ऐसा लगा है कि ये दूसरे के पीछे अपने प्राण दे रहे हैं । मोह ही इस जीव को एक महान् दुःख देता है । इस आत्मा का ऐसा स्वभाव है जैसा भगवान् का है । पर मेरा यह वैभव दबा हुआ है और प्रभु का यह वैभव प्रकट हो गया है । पर मुझमें ऐसी शक्ति है जैसे प्रभु परमात्मा बन गए हैं । तो प्रभु का और अपना एक स्वभाव है, पर थोड़ा विवेक कर रागद्वेष मोह हटाएँ । तो जो प्रभु को प्राप्त हुआ है वही हमें प्राप्त हो सकता है । प्रभु की भक्ति में जो गुण है वह गुण जीव के अन्य प्रकार आ नहीं सकता व्यवहार में । व्यवहार में हमारा दूसरे जीवों से सम्बन्ध लग रहा है, पर घर परिवार मित्रजन

इनके सम्बन्ध से आत्मा को क्या प्राप्त होगा ?

**प्रभु के शरण का प्रसाद—प्रभु की शरण गहें तो पुण्य प्राप्त हो और धर्म का मार्ग सूझे तो कल्याण हो ।** तो प्रभुभक्ति में बड़े-बड़े दुःखी जीवों ने अपने संकट दूर किये हैं । जब मनुष्य पर कोई आपत्ति आती है, दरिद्रता आती है तो वह अपनी इस परिस्थिति में दुःख मानता है । दुःख तो यह है कि ज्ञान नहीं बनाते । ज्ञान उत्पन्न हो बस यही आनन्द का उपाय है । ज्ञान बढ़ाओ तो ज्ञान से अपने आपमें बड़ा संतोष मिले । ज्ञान बिना यह जीवन बेकार है । गरीब भी हो कोई और उसका ज्ञान पुष्ट है तो अपने ज्ञान के बल से वह सुखी रह सकता है और धनी भी हो और ज्ञान सही नहीं है तो धन से कहीं उसे सुख न मिल जायेगा । सुख का देने वाला तो ज्ञान है । उस ज्ञान की संभाल करो और सुखी होवो । ज्ञान इतना ही करना है कि आत्मा समस्त जगत् के वैभव से न्यारा है । मुझमें मेरा ही सत्त्व है । मेरे से बाहर मेरी कोई चीज नहीं है । उदय के अनुसार जो प्राप्त होता है उसमें संतोष करना । उससे अधिक की वासना न रखना, सो आत्मा का सम्पर्जन है व यही प्रमुख सच्चा शरण गहना है ।

**इच्छानिरोध में कल्याण का दर्शन—भैया !** इच्छा करने से मिलता क्या है? बड़े-बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती भी धन वैभव में लीन नहीं हुए । वाञ्छा वहां पूर्ण होती है जहाँ वाञ्छा नहीं रहती । इच्छा के रहते हुए हम चाहें कि हमारा कल्याण हो तो नहीं हो सकता है । इच्छा को मेटो और अपने पुण्य के अनुसार न्याय नीति से कमाने से जो कुछ भी मिले उसमें संतोष करो, उसी में अपना जीवन चलावो और धर्म करना मत भूलो । यदि अपने खर्च में १० रुपये उठते हैं तो धर्म के लिए भी २ रुपये खर्च करो । जिनकी हजारों लाखों की कमायी है वे हजारों का दान करें ।

**दयायज्ञ—एक कथानक में कहते हैं कि एक मनुष्य कहीं जा रहा था ।** रास्ते में उसे एक भूखी कुतिया मिली जिसने बच्चे पैदा किये थे बड़ी भूखी थी । कुतिया को उस मनुष्य ने जो भी चार छः रोटियां थी खिला दी उस दिन वह उपवास करके रह गया । उस पुरुष ने अपने जीवन में बहुत से यज्ञ भी किए थे । एक बार जब वह बहुत गरीब हो गया तो उसने सोचा कि अब हम अपना एक यज्ञ राजा को बेच आएँ तो कुछ गुजारा चलेगा । सो राजा के पास यज्ञ बेचने गया । वह राजा कहता है कि कौन-कौन तुमने यज्ञ किए हैं सो बतावो । उसने अनेक यज्ञ बताये । एक जानकार मंत्री बैठा था तो उसने कहा कि महाराज आप यज्ञ न खरीदे । इसने कुतिया के एक बार चार छः रोटी खिलाकर प्राण बचाये थे उसमें जो पुण्यबंध इसने किया था वह आप खरीद लें । वह सोचता है कि दो चार रोटी खिलाने का इतना महत्त्व बता रहे हैं और जिसमें हजारों रुपये खर्च हुए उसका महत्त्व नहीं बताते हैं । उसे कुछ श्रद्धा हुई—बोला महाराज, मैं यह पुण्य न बेचूँगा । आप मेरे सारे यज्ञ खरीद लें पर इसको न बेचेंगे ।

**शान्ति का कारण ज्ञान व ध्यान—जिनकी स्थिति थोड़ी है उसी के अन्दर अपनी शक्ति माफिक दान करते हैं, धर्म करते हैं तो उनको बड़ा पुण्य होता है ।** ज्ञानीजन परवाह नहीं करते हैं, जो स्थिति है उसी में खुश रहते हैं । पूजा करो, स्वाध्याय करो, ज्ञान बढ़ाओ और ऐसी पुस्तकों का स्वाध्याय करो जिन पुस्तकों से आपको तत्काल ज्ञान हो जाये । जो समझा-समझा कर उपदेश देने वाली पुस्तकें हैं उनका स्वाध्याय करिये ।

एक ज्ञान की ही वृद्धि करने में लग जाइये । ज्ञान से जो आनन्द होगा, शांति मिलेगी वह अन्य प्रकार से नहीं मिल सकती है । पुराणों में पढ़ा होगा कि बड़े-बड़े राजा दुखिया रहे । उनका दुःख दूर तब हुआ जब उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ । पाण्डव और कौरव में कितना बड़ा युद्ध हुआ पर पाण्डवों को शांति तब मिली जब उन्होंने सर्व परित्याग करके निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की, अपने आत्मा का उन्होंने आदर किया तब उनको शांति प्राप्त हुई । बाह्य पदार्थों में रहकर कोई पुरुष सुखी नहीं रह सकता है । जो सुख और शांति प्राप्त होगी वह अपने आपमें रम करके ही प्राप्त होगी ।

**रागादि की बन्धनरूपता—**अज्ञानी जीव रागद्वेषमोह के परिणाम करता है । जो जीव स्वच्छन्द होकर किसी के राग में आकर वह जाता है वह बह जाता है । प्रभु ने क्या किया जिनकी हम पूजा करते हैं ? मोह पहिले त्यागा, घर में रहकर भी मोह त्यागा जा सकता है । न मानें कुछ अपना । बस रहे हैं घर में पर यह जानें कि मेरा तो मैं ही आत्मा हूँ, दूसरा मेरा कुछ नहीं है । तो वहां कोई अशांति नहीं हो सकती है । जो ये अज्ञान से रागादिक परिणाम होते हैं ये कर्मबंध करते हैं । जब तक कर्मों का बंध है तब तक जन्म मरण है ।

**वर्तमान स्थिति का गौरव—**पशुओं में पैदा हुए, पक्षियों में पैदा हुए, अब मनुष्य हुए हैं । तो अनेक जीवों से कितने भले हैं अपन लोग । बोल सकते हैं, अपने मन की बात बता सकते हैं, दूसरे की बात सुन सकते हैं वे बेचारे पशुपक्षी बांय-बांय करते हैं किसी को अपना अभिप्राय नहीं बता सकते हैं, कितने कष्ट है उनको और हम आप जो मनुष्यपर्याय में है हम आप गृहस्थ भी उतना ऊँचा ज्ञान पा सकते हैं जो कि साधुसंतों के भी साधारण संयम में रहते हुए प्राप्त होता है । तो अपनी वर्तमान परिस्थिति का गौरव मानना चाहिए । हम केवल मोह, राग करने के लिए ही नहीं उत्पन्न हुए हैं । हम अपने आपकी सिद्धि के लिए उत्पन्न हुए हैं । ऐसा जानकर तृष्णा का ख्याल छोड़ो, मोह का परिणाम छोड़ो और अपने को ज्ञानरूप में निरखो ।

**आत्मत्व और आत्मविकास—**मैं आत्मा केवल ज्ञानप्रकाशरूप हूँ । ये सब मोह के नाटक है जो रिश्तेदार माने जाते हैं और-और तरह के दंद फंद किए जाते हैं ये सब मोह के नाटक है । इन मोह के मूल्यों में रहकर कोई जीव सुखी नहीं रह सकता है । सो ऐसा उपाय करो कि जिस उपाय से जन्म मरण मिट जाये । भगवान की पूजा में बोलते हैं कि जन्म, जरा, मरण ये मेरे नष्ट हो जायें, इसके लिए मैं जल चढ़ाता हूँ तो जैसे पानी मल को साफ कर देता है इसी प्रकार भगवान के भक्तिजल से हम इन तीनों मेलों को साफ करना चाहते हैं । हमें जन्म, जरा, मरण इन तीनों रोगों को दूर करना है इसलिए मैं जल का समर्पण करता हूँ । जल में आत्मरोगमल धोने की सामर्थ्य नहीं अतः इसे त्यागता है । संसार का ताप नष्ट करने के लिए चंदन चढ़ाता हूँ । चंदन संताप को दूर करता है । यहां यह भाव बनाया कि इस चंदन में यह ताकत नहीं है कि मेरे संसारताप को दूर कर सके इसलिए मैं चंदन का त्याग करता हूँ ।

**धर्म में त्याग की बहुलता—**अक्षयपद की प्राप्ति के लिए मैं अक्षत का त्याग करता हूँ । इन चावलों के त्याग से क्या हमें अक्षयपद मिल जायेगा जिस पद में मरण नहीं है ? नहीं, इसलिए इन अक्षतों का त्याग किया जाता है । ये पुष्प काम के साधन हैं सो इन कामबाण को नष्ट करने के लिए हम इन पुष्पों त्याग करते हैं । क्षुधा एक महान् रोग है, जिस रोग से यह सारा जगत दुःखी हो रहा है और लोगों ने जान लिया

कि नैवेद्य और भोजन ये इस रोग को मिटा सकते हैं। मगर ज्ञानी कहते हैं कि नैवेद्य में सामर्थ नहीं है कि क्षुधा का रोग मिट जाये। सदा के लिए क्षुधा मिट जाये ऐसी सामर्थ्य तो आत्मभक्ति में है, तपस्या में है इसलिए मैं इन नैवेद्य आदिक को त्यागता हूँ। अष्टकर्मों के जलाने के लिए मैं धूप को त्यागता हूँ। मोक्षफल के पाने के लिए मैं इन फलों को त्यागता हूँ। तो त्याग ही त्याग इस जैन सिद्धान्त में बताया गया है। त्याग बिना कोई सुखी नहीं हो सकता है। इसलिए मन से त्यागपरिणाम बनाऊँ।

अपने आत्मा की संभाल की स्वयं त्यागस्वरूपता—भैया! अपने को ऐसा देखें कि यह मैं ज्ञानमय आत्मा स्वयं अपनी वस्तुओं के त्यागस्वरूप हूँ। कौनसी परवस्तु लगी है? मैं अकेला हूँ और सर्व पर से शून्य हूँ। अपने आपमें अपने आपको देखें तो यह एक सबसे बड़ा ज्ञान वैभव है। प्रभु अपने ज्ञान में सदा लीन रहता है। धन से होता तो प्रभु धन क्यों त्यागते? परिवार से सुख होता तो प्रभु परिवार को क्यों त्यागते? त्याग में सुख है, ग्रहण में सुख नहीं है। समग्र परवस्तुओं का त्याग हो तो शांति इसे मिल सकती है। विकल्पों में किसी पर को रखें तो वहाँ अशांति ही है। यह सारा जगत् परपदार्थों को अपनाकर ग्रहण करता है। परपदार्थों को अपना मानकर अपने चित्त में फँसाकर दुखी हो रहा है। इस जगत् में किसी को सुखी कर सकने वाला कोई दूसरा प्राणी नहीं है। हम ही अपना निराला परिणाम बनाएँ, मोह राग दूर करें तो लो हम ही सुखी हो लें।

राग का त्याग सुखी होने का मूल कारण—देखो भैया! कितना राग लगा है? शरीर का राग लगा है, शरीर अच्छा होना चाहिए, पुष्ट होना चाहिए। इज्जत का राग लगा है। मेरी पोजीशन बढ़नी चाहिए। लोग मुझे अच्छा मानें। धन का राग लगा है। धन सम्पदा मेरे बढ़नी चाहिए। धन बढ़ाकर इज्जत बढ़ाकर क्या आत्मा को शांति मिल सकेगी? नहीं मिल सकती। शांति तो केवल एक शुद्ध अपने ज्ञानस्वरूप के अनुभव में मिल सकती है। सो प्रत्यक्ष देख लो कि इस मोह के होने से सारी दुनिया बरबाद हो रही। भीतर में यह नहीं विचारते कि मोहरहित मैं एक ज्ञानमात्र तत्त्व है, प्रभु की जाति का हूँ। यदि प्रभु जैसा बनना है तो अपने को अकेला देखो। यह जीव अकेला ही जन्मता और अकेले ही सुख दुःख भोगता है। इसके साथ कोई दूसरा नहीं है। ऐसा जानकर परपदार्थों से इच्छा त्यागो और अपने आपमें सुखी रहो।

दुःखों का कारण मोह, राग और द्वेष—इस जगत् के प्राणी को जितने भी कष्ट हैं वे राग द्वेष मोह के कारण हैं। मोह तो नाम है मिथ्यात्व का और राग नाम है प्रेम का और द्वेष नाम है विरोध का। मोह का यह अर्थ है जो सम्यक्त्व को न होने दे। इस मोह का दूसरा नाम हैं दर्शनमोह। संसार के समस्त जीव अत्यन्त जुदे-जुदे हैं। किसी जीव का किसी दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी कोई किसी को अपना माने तो यह उसका मोह है, मिथ्यात्व है, सम्यक्त्व से विरुद्ध परिणमन है। रागद्वेष चारित्रमोह को कहते हैं। चारित्र मोह २५ प्रकार का होता है। सब जानते हैं।

राग द्वेष का परिवार—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसा क्रोध मान होना और माया लोभ होना जिससे जीव इस चर्तुर्गति में रुलते रहें, उन्हें अपने आत्मतत्त्व का दर्शन न हो। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ वह कहलाता है जो आत्मा में जरा भी संयम न होने दे। श्रावक का ब्रत भी न होने

दे ऐसा कषाय । प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे कषाय है कि ये मुनि ब्रत नहीं होने देते और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे कषाय हैं कि ये इसको केवलज्ञान नहीं होने देते, यथाख्यात चारित्र नहीं होने देते । तो ये १६ कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, ये नौ नोकषाय ये सब राग और द्वेष के परिणाम हैं ।

**चारित्रमोहों में राग द्वेष का विभाग—**क्रोध व मान द्वेष में शामिल है और माया व लोभ राग में शामिल है । जो क्रोध करते हैं वे द्वेष का परिणाम करते हैं, सो सब जानते ही हैं कि क्रोध के समय इसके सारे गुण द्वुलस जाते हैं । क्रोधी मनुष्य किसी को प्रिय नहीं होता। प्रिय तो कषायवान् कोई भी नहीं होता। क्रोधी की शकल देखते ही दर्शक लोग यह सोचते हैं कि यह मेरे लिए क्या उपद्रव आया? तो वह क्रोध साक्षात् द्वेष है और मान भी द्वेष से होता है। मान में दूसरे को तुच्छ गिनना और अपने को महान् गिनना यहीं तो परिणाम होता है। तो दूसरे को तुच्छ गिना और दूसरे से द्वेष किया। द्वेषरूप भाव हुए बिना मान कषाय नहीं बनती। माया राग में बनती है और लोभ राग में बनता है।

**मोह के प्रसार के परिहार का उपाय—**यह सारा जहान रागद्वेष के दो पाटों के बीच पिस रहा है और दुःखी हो रहा है। ऐसे मोह की धूल इसके सिर पर चढ़ी है, बुद्धि पर चढ़ी है कि जिन बातों से ये दुःखी होते हैं उन्हीं बातों को ये करते चले जाते हैं। घर में आप लोग रहते हैं ठीक है। रहिये, पर अपने आत्मा को भी तो जानना होगा कि मैं आत्मा इन सबमें मिला जुला हूं या कोई स्वतंत्र हूं। मैं एक ज्ञानज्योति वाला पदार्थ हूं। घर में रहते हुए भी यदि यह दृष्टि बन जाये कि मैं तो इन सबसे न्यारा हूं तो आपको मोह न रहेगा। राग और द्वेष तो चलेगा कुछ समय तक जब तक आप घर में रहते हैं, पर सच्चा ज्ञान जगेगा तो मोह न रहेगा। जिसके मोह नहीं रहता उसको ही मोक्षमार्गी कहते हैं, सम्यग्दृष्टि कहते हैं, जैन कहते हैं ।

**मोह, हटने से उन्नति की संभवता—**मैया ! मोह के मिटा लेने में कोई आपत्ति नहीं, बल्कि निराकुलता है, सिद्धि है । चीज आपकी वही है, घर वही, दुकान वही, लोग वही, पर एक भीतर से सम्बन्ध बुद्धि मिट जाये । मुँह से कहने की बात नहीं कह रहे हैं कि आप घर के लोगों से ऐसा कहें कि तुम मेरे कुछ नहीं लगते हो, हमारा तुमसे कुछ मतलब नहीं, ऐसी बात न कहो किन्तु अन्तर में यह तो ज्ञान बनाए रहो कि है सब जीव अलग-अलग । किसी जीव के साथ न कोई आया और न कोई जायेगा । इतना ध्यान बनाए रहो तो आपका मोक्ष मार्ग परिणमनरूप बराबर चलता रहेगा । शांति और आनन्द से आप दूर नहीं हैं । मोह करने से कुछ विकास नहीं होता, बरबादी ही होती है, पाप का उदय जल्दी ही आता है ।

**मोह के दूर होने से व्यवस्था की भी श्रेष्ठता—**मैया ! मोह न करते हुए घर में रहे तो घर और बढ़िया चलेगा और मोह करके रहें तो घर उन्नतिशील न हो सकेगा । क्या आप यह जानते हैं कि मैं इन्हें पालता हूँ, मैं इन्हें पोसता हूँ? अरे उनका भी उदय उनके साथ लगा है । जो आज बच्चा पैदा हुआ है वह तो पूर्वजन्म से ताजा पुण्य लिए हुए आया है तभी तो उसकी कितनी खुशी मनायी जा रही है, और उस बच्चे की रक्षा के लिए कितनी चेष्टाएँ की जा रही है ? जितने भी घर के लोग हैं सबका उनके साथ पुण्य लगा हुआ है । वे

अपने उदय के अनुसार सुखी रहते हैं। आप उनके पालनहार नहीं हैं। उनका उदय अनुकूल है तो आप उनके पालन में निमित्त बनते हैं।

जीव की स्वतंत्रता का स्मरण रखिए, इससे मोह दूर होगा, मोह दूर होने से पुण्य की वृद्धि होगी, पाप का क्षय होगा, उन्नतिशील बनोगे पर मोह रखने से कोई लाभ न होगा। बहुत से भिखारी जाते फिरते घर बसाये हुए रहते हैं, उनमें भी मोह तीव्र चल रहा है। तो क्या किसी को अपनाने से मोह करने से उसकी बड़वारी हो जाती है? नहीं होती है। यदि विवेक जग जाये कि किसी के प्रदेश किसी में मिले नहीं है, किसी के परिणमन से किसी दूसरे का परिणमन होता नहीं है, ऐसी बुद्धि से वस्तु के स्वरूप को परखने लगे तो वहाँ मोह नहीं रहता। जहाँ मोह नहीं रहा वहाँ पुण्य का रस तो बढ़ता है और पाप का रस घटता है और मोक्षमार्ग की आगे सिद्धि रहती है। तीन बातें होती हैं तब कल्याण होगा और होता ही है।

**धर्मश्रय की कर्तव्यता—भैया!** प्रथम बात तो यह है कि धर्म में दृष्टि रहे। केवल मैं जैसा शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप हूँ ऐसा ही अपने को मानें और ये जो पर्यायें हैं, मैं मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पशुपक्षी हूँ, धनवान् हूँ, इनमें ऐसा विश्वास हो कि मैं इन रूप नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध ज्ञान प्रकाशमात्र हूँ, ऐसी अपने आपकी प्रतीति जगे इसका नाम है धर्म का पालन, धर्म की दृष्टि और फिर जैसे-जैसे रागद्वेष कम होते जाते हैं वैसे ही वैसे धर्म वृद्धि होती जाती हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुषों के पुण्य का रस तो बढ़ता जाता है और पाप का रस घटता जाता है, धर्म की दृष्टि प्रबल होती जाती है और वह ज्ञानी जैसा अपने आपको मान रहा है केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र ऐसा कभी हो जायेगा। जो ऐसा होता है उसे कहते हैं परमात्मा।

**स्वभाव व परिणमन की समानता—भैया!** जिन देव की हम पूजा करते हैं तो उनमें कौनसा करामात है कि हम सुबह ही उठकर, नहाकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं? उनमें करामात यह है कि जैसा उनका शुद्ध स्वरूप है वैसा शुद्ध स्वरूप प्रकट हो गया है। यह उनकी परम कला है जिससे हम उनकी भक्ति के लिए खिंचे-खिंचे फिरते हैं। यदि जगत के जीवों की भाँति अपनी स्त्री कुटुम्ब वाला वह प्रभु होता या जहाँ वहाँ के लोगों को युद्ध आदि में सलाह सहयोग देता, विडम्बना को करता होता तो साधारण पुरुषों और उस परमात्मा में फर्क क्या रहा? परमात्मा वही है जो पूर्ण निर्दोष है और पूर्ण गुणसम्पन्न है। ये दो ही मुख्य व्याख्यायें हैं, दोष रंच न हो और गुण पूरे हो गए हों उसका नाम भगवान् है।

**प्रभु की उपासना का कारण—संसारी जीव में दोष तो पाये जाते हैं और गुणों की कमी पायी जाती है, पर परमात्मा में दोष एक न मिलेगा और उनमें पूरे गुण हो गए हैं, यह भगवान् की विशेषता है और हमको भगवान् की उपासना क्यों करना चाहिए कि हमें भी यह बात चाहिए कि हम में शेष एक न रहे और गुण पूरे प्रकट हों। इससे सारी आकुलता मिट जायेगी। दोष के रहने से आकुलता रहती है और गुणों की कमी से भी आकुलता रहती है, दोष एक न रहे और गुण पूरे हो जायें तो वहाँ आकुलता नहीं रह सकती। दोष क्या है पर को अपना मानना, पर से प्रीति करना, पर से विरोध रखना, बाहरी बातों से अपनी इज्जत मानना, दूसरे लोग मुझे बड़ा समझें, ऐसी पोजीशन का आशय रखना ये सब दोष हैं।**

**दोषों की विपाक आकुलता—देख लो भैया!** इन दोषों के बीच रहते हुए आकुलता रहती है या नहीं

रहती है। भगवान् पूर्ण निराकुल है क्योंकि उनके विकल्प ही नहीं होते। वह न इञ्जत चाहे, न दुनिया में अपनी पोजीशन रखना चाहे। वह तो शुद्ध द्रव्य की भाँति पूर्ण निर्दोष है और इसी कारण उनके गुण प्रकट हैं। उनमें दोष नहीं रहे और गुण पूरे प्रकट हो गए। भैया! अपने दोष किसे विदित नहीं है। सर्वदोषों को दूर करने का यत्न किया जाये, यही भगवान् की सच्ची भक्ति है, सही धर्म का पालन है।

**दोषी के विनाश का क्रम**—ये दोष यहाँ तीन प्रकार के बताए गए हैं—मोह, राग और द्वेष। इन तीनों में सबसे बड़ा दोष है मोह। इनमें पहिले मिटना है मोह, ऐसा न होगा कि रागद्वेष पहिले मिटे और मोह पीछे मिटे। इसमें प्रथम नष्ट होता है मोह। मोह नाम अज्ञान का है। परपदार्थों से अपना सम्बन्ध मानना मोह है। मोह मिटने के बाद फिर मूल से मिटता है द्वेष। द्वेष परिणमन सूक्ष्मरूप से भी अधिक से अधिक रहता है तो ९वें गुणस्थान के कुछ भाग तक रहता है। द्वेष मिट चुकने बाद फिर मिटता है राग। राग मिटता है १० वें गुणस्थान के अंत से। तो सबसे कठिन चीज है राग। कोई जीव चाहे कि मैं राग मिटा दूँ तो उसके लिए बहुत कठिन पड़ेगा। हाँ, कुञ्जी मिल जाये तो उसके लिए बहुत सरल हो जाये।

**रागद्वेष मेटने की कुञ्जी**—जब तक रागद्वेष मेटने की कुञ्जी नहीं मिलती है तब तक भले ही यह चाह रहे कि रागद्वेष मेरे मिटे पर मिट नहीं सकते। और जहाँ कुञ्जी प्राप्त हो गयी वहाँ इसके रागद्वेष दूर हो सकते हैं। वह कुञ्जी क्या है? अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा के जानने का दृढ़ अभ्यास हो—मेरा राग स्वरूप नहीं है, राग कर्मों के उदय से होता है, राग मेरे दुःख देने के लिए ही होता है, संसार में भ्रमण कराने के लिए ही होता है, मैं रागरहित ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, ऐसा अपने को वैराग्य स्वभाव ज्ञानमात्र लक्ष्य में लें तो उसके राग दूर हो सकता है।

**राग मेटने का अन्तःपुरुषार्थ**—एक ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्व लक्ष्य में न आये और ऊपरी उपायों से हम राग को दूर करना चाहें तो नहीं हो सकता है। अमुक चीज से राग है उसको छोड़े तो क्या राग मिट जायेगा भले ही सहायक तो है चीजों का त्याग, मगर मात्र चीज के छोड़ने से राग नहीं मिटता। चीज को छोड़ दिया, आप अलग पहुंच गए पर मन से विचार तब भी तो कर सकते हो। राग तो मन से होता है ना। तो जब तक मन ऐसा न बने कि वह राग न कर सके तब तक राग कैसे मिट सकता है? मन ऐसा कब बनें कि यह राग न कर सके। जब ऐसा प्रकाश हमारे ज्ञान में आयेगा कि राग तो विकार है, औपाधिक है, मेरे स्वरूप में ही नहीं है। हो गया है मुझमें, पर स्वभाव में राग नहीं है। मेरा स्वभाव तो भगवान् की तरह केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने का है—ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको लक्ष्य में लें तो राग मिट सकता है और राग मिटा कि सर्वसिद्धि हो गई।

**अज्ञानी का राग**—प्रभु में और मुझमें अन्तर राग का ही तो है। वह प्रभु वीतराग है और इस मुझ आत्मा में राग का फैलाव चल रहा है। यह राग मेरा स्वरूप नहीं है मगर वह झलक रहा है और अज्ञानी जीव अपने में झलकने वाले राग को अपना स्वरूप मानकर राग में एकमेक होकर अपने आपको भूल जाते हैं और ऐसा ही समझते हैं कि अमुकचंद ही तो मैं हूँ, लखपति या हजारपति ही तो मैं हूँ, इतने परिवार वाला ही तो मैं हूँ, ऐसे रूप रंग वाला, ऐसे आकार वाला यह ही तो मैं हूँ इत्यादिरूप से उनकी बुद्धि हो

जाती है और अपना जो सहज सत्यस्वरूप है, अमूर्त, ज्ञानमात्र, उसकी वह दृष्टि ही नहीं करता। तो यों यह जीव मोह के वश होकर अपने आपको भूलकर संसार में रुल रहा है।

**मोह का फल—छहड़ाला** में बताया है कि मोहरूपी तेज शराब पीकर यह जीव अनादिकाल से एक स्वास में १८ बार जन्म और मरण करता है। अपने आपको संसार में भटकाता हुआ चला आ रहा है। अब आप देखें सबकी यही दशा थी पहिले। जितने जीव है ये सब निगोद में थे पहिले। जितने ये दिख रहे हैं ये भी निगोद थे और जो भगवान बने हैं अरहंत और सिद्ध बन गए हैं ये भी कभी निगोद में थे। जीव के घर ही मुख्य दो हैं—या तो निगोद या मोक्ष। बाकी बीच के स्थानों में तो यह थोड़े समय को रहता है। चिरकाल तक रह सकता है यह जीव तो निगोद में रह सकता है या मोक्ष में रह सकता है। मोक्ष में तो फिर यह सदा के लिये रहता है।

**हमारा पूर्व परिणमन और वर्तमान अभ्युत्थान—निगोद** क्या चीज होती है कि पृथ्वी आदि जो एकेन्द्रिय जीव है इनसे भी निकृष्ट सूक्ष्मशरीर वाले एकेन्द्रिय जीव होते हैं। वे कहीं तो वनस्पति के सहारे रहते हैं और कहीं बिना सहारे भी रहते हैं। यहाँ भी सब जगह एकेन्द्रिय निगोद ठसाठस भरे हैं। वे एक सेकेण्ड में २३ बार तो जन्म ले लेते हैं और उतना ही उनका मरण हो जाता है। क्योंकि नवीन भव होने को ही पूर्वभव का नाश कहते हैं। तो हम निगोद से निकलकर आज दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय आदि तुच्छ भवों को पार करके मनुष्य हुए हैं तो आज बड़ी गम्भीरता से जानना है कि हमारे करने लायक कार्य क्या है कि हम इन संसार के संकटों से कैसे दूर हो सकें?

**रागादिक का उपादान आत्मा होने पर भी आत्मस्वभावत्व का अभाव—आत्मा रागादिक का करने वाला नहीं है,** इस तत्त्व को यहाँ सिद्ध करते हैं वैसे रागादिक भाव आत्मा में ही होते हैं, पुद्गल में नहीं होते हैं, मगर आत्मा अपने आप अपने स्वभाव से रागादिक को नहीं करता है। क्योंकि यदि आत्मा अपने स्वभाव से रागादिक को करने लगे तो रागादिक कभी नहीं छूट सकते क्योंकि वह सब तो आत्मा का स्वभाव हो गया और जो स्वभाव है वह अनन्त काल में भी नहीं छूटता।

**दृष्टान्तपूर्वक परभाव की सिद्धि—जैसे दर्पण में छाया का प्रतिबिम्ब पड़ता तो है जो चीज सामने आ जाये उसका अक्स पड़ता तो है, मगर उस छाया को वह अपनी तरफ से नहीं करता। चीज सामने हो तो दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता। चीज कुछ भी सामने न हो और दर्पण अपने आप प्रतिबिम्ब किया करे, क्या ऐसा होता है? नहीं होता। दर्पण में जो छाया पड़ती है यह परपदार्थ की सत्त्विधि पाकर परिणमती है। दर्पण अपने आप पेड़ के आकाररूप अथवा और किसी अन्य के आकार रूप नहीं परिणमता। उपाधि कोई सामने हो तो दर्पण छायारूप परिणमता है। इसी तरह आत्मा अपने आप रागादिक रूप नहीं परिणमता है, कर्मों का उदय सत्त्विधि में हो तो रागादिकरूप परिणमेगा। तो यहाँ प्रश्न किया जा रहा है कि हम कैसे जाने कि आत्मा रागादिक का करने वाला नहीं है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर रूप में ये तीन गाथाएँ आयेगी उनमें यह पहिली गाथा है !**

## गाथा २८३

अपडिक्कमणं दुनिहं अपच्चखाणं तहेव विष्णेयं ।

एएणुवएसेण य अकारओ वण्णओ चेया ॥२८३॥

**अप्रतिक्रमण का द्वैविध्य—**अप्रतिक्रमण दो तरह का होता है । अप्रतिक्रमण का अर्थ है पूर्व लगी हुयी उपाधि का त्याग न करना, पदार्थ का त्याग न करता । सो यह अप्रतिक्रमण दो तरह का है—एक भाव अप्रतिक्रमण और एक द्रव्य अप्रतिक्रमण । याने एक तो चीज का त्याग न करना और एक कल्पना का त्याग न करना याने अत्यागो त्याग न करना दो तरह का है—एक तो बाहरी चीजों का त्याग न करना, दूसरे वस्तुविषयक कल्पना का त्याग न करना । तो दो प्रकार के ये जो अत्याग बताये गए हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मबंध में इन दोनों का ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है । याने द्रव्य का त्याग न किया तो कल्पना का त्याग न हुआ । कोई मनुष्य खूब उपाधि रखे, परिग्रह रखे और कहे कि हमारे तो उसके अन्तर भाव नहीं है तो कौन मानेगा ? जब बाह्य पदार्थों का त्याग नहीं किया जा सकता है तो समझना चाहिए कि तदविषयक कल्पनाएँ भी निरन्तर बनी रहती हैं ।

**भावअप्रतिक्रमण का निमित्त द्रव्य अप्रतिक्रमण—**तदविषयक जो कल्पना है उसका निमित्त कारण है बाह्य चीजों का त्याग न करना । यद्यपि बाह्य चीजों का त्याग कर देने पर भी किसी-किसी के उसकी कल्पना नहीं मिटती है । वह सोचता रहता है, मगर बाहरी चीजों को पकड़े रहे और कल्पना न रहे यह नहीं हो सकता । तो इस कल्पना का करने वाला यह जीव स्वभाव से नहीं है । यदि यह जीव अपने रागादिक का करने वाला स्वभाव से होना तो रागादिक सदैव रहने चाहिये ।

**राग मेटने का मौलिक उपाय—**अनादिकाल से यह सारा विश्व राग से परेशान है । दूसरा इस जीव को कोई दुःख नहीं है । कोई किसी प्रकार का राग लिए है, कोई किसी प्रकार का राग लिए है, सब जीव रागवश दुःखी हैं । किसी को परिवार विषयक राग है, किसी को पोजीशन, इज्जत का राग है । किसी को कुछ राग है । सबको राग लग रहा है । नहीं तो इस जीव को कष्ट क्या है ? तो यह राग कैसे छूटे इसका उपाय इसमें बताया जा रहा है । राग छोड़ने के कितने ही उपाय हैं, कितने ही ग्रन्थों में बताये गए हैं । बड़ी तपस्या करें, घर बार छोड़ें, गुरुवों की संगति में बसे, बहुत से उपाय कहे गए हैं पर जैन सिद्धान्त राग मेटने का मूल उपाय यह बताता है कि पहिले तुम यह जान जाओ कि राग करना मेरा स्वभाव नहीं है । अपने उस स्वच्छ ज्ञानस्वभाव की पहिचान तो करो, अर्थात् यह मैं आत्मा अपनी ओर से अपने सत्त्व के कारण केवल ज्ञाता दृष्टा हूँ । इसका काम केवल जानन देखन का है । इसके आगे इस मुझ आत्मा का कार्य नहीं है । पहिले ऐसा पहिचान तो लो फिर राग मिटेगा ही ।

**प्रतीति के अनुसार वृत्ति—**अपने आप में ऐसा जाने बिना राग का त्याग नहीं कर सकते क्योंकि जब यह जान लिया कि मेरा तो काम राग करने का है, मेरा काम मोह करने का है तो मोह छोड़ेगा नहीं । जैसे कोई जानता है कि मैं इन्सान हूँ और मेरा दुनिया की सेवा करने का काम है । तो जब उसने अपने को

इन्सान समझ लिया तो वह बाह्य में सबकी सेवा करेगा । और कोई जान ले कि मैं तो एक आत्मा हूं, इन्सान होना तो एक उपाधि का काम है । चार गतियां हैं नरकगति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देवगति । ये स्थायी चीजें नहीं हैं । अभी मनुष्यभव में है और इस मनुष्यभव को छोड़कर अन्य किसी भव में पहुंच गए, फिर यह तो कुछ नहीं । तो यह भव मिलना मेरे आत्मा का काम नहीं है । मेरे आत्मा का काम तो केवल जाननहार बने रहने के आगे जो रागद्वेष करने का भाव पैदा होता है वह सब परभाव है । मेरे आत्मा का काम नहीं है । ऐसे अपने अविकारी आत्मा का परिचय हो तो राग छूट सकता है ।

**अमौलिक उपाय संतोष की अस्थायिता—भैया !** मौलिक उपाय किये बिना कोई कारण मिलाकर राग को मंदा कर लें तो कुछ समय मंदा रहा फिर बाद में तेज हो उठता है । जैसे किसी पुरुष को किसी इष्ट का वियोग हो जाये जिससे बहुत बड़ा प्रेम था, इसके वियोग होने से उसे बड़ा क्लेश हो रहा है, उसके क्लेश को हटाने के लिए रिश्तेदार लोग उसे यात्रा कराने ले जाते, किसी तरह से उसका मन बहलाते हैं । मन बहलाने के अवसर में थोड़ा मन बहल जाये और उसका ख्याल कम हो जाये तो क्लेश तो उसके अब हट गया, मगर मूल से नहीं नष्ट हुआ है । जैसे ही उसे तेज ख्याल आया वहीं वह रोने लगता है । तो उसके इष्टवियोग से होने वाला क्लेश मन बहलावे से नहीं मिट सकता । किन्तु जब अन्तर में यह दृढ़ ज्ञान हो जायेगा कि मेरे आत्मा का तो मैं ही केवल आत्मा हूं, मेरा कोई न था, न है और न होगा । इस जगत् में सर्वत्र मैं अकेला हूं, ऐसे अपने एकत्व स्वभाव को समझ ले तो इष्ट वियोग का दुःख मूल से मिट जायेगा और इस उपाय को तो करते नहीं और मन बहलाते फिरते तो उस दुःख को जड़ से तो नहीं मिटाया जा सकता । इसी तरह आत्मा में जो रागादिक भाव होते हैं, जिन भावों के कारण हम क्लेश करते फिरते हैं, वे रागादिक भाव मेरे मूल से नहीं मिट सकते । कब तक जब तक रागरहित केवलज्ञानमात्र मेरा स्वभाव है, यह लक्ष्य में न आ जाये ।

**आत्मा के रागादिक का अकर्तृत्व—राग रहित ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लिये बिना राग नहीं मिट सकते ।** इसीलिए आचार्यदेव यह बात बतला रहे हैं कि आत्मा रागादिक भावों का कर्ता नहीं है । तो किसी ने पूछा कि क्यों कर्ता नहीं है ? कोई प्रमाण दो । तो उसके प्रमाण में यह बात रखी जा रही है कि यदि आत्मा रागादिक का करने वाला होता तो अतिक्रमण दो प्रकार के क्यों हो जाते । परवस्तु का त्याग न करना । अत्याग दो तरह के कैसे हो गए—एक भाव अत्याग और एक द्रव्य अत्याग । द्रव्य अत्याग की क्या जरूरत थी ? यह आत्मा तो अपने ही भावों से रागादिक करता है । तो यहाँ बताया गया है कि यदि परवस्तु का त्याग नहीं किया जा सकता तो भावों का त्याग नहीं किया जा सकता । अर्थात् जब तक परवस्तु का त्याग न होगा तब तक भावों से कल्पना नहीं मिट सकती । इस तरह यह सिद्ध है कि आत्मा में जो कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं वे परवस्तुओं का आश्रय लेकर और कर्मों के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होती हैं । आत्मा का स्वभाव रागादिक करना नहीं है । तो दो प्रकार के जो अप्रतिक्रमण कहे गए हैं और दो ही प्रकार के प्रत्याख्यान कहे हैं, इन उपदेशों से यह निश्चय करना कि यह आत्मा रागादिक भावों का अकर्ता है, इसको

और खुलासा करते हैं ।

## गाथा २८४

अपडिक्कमणं दुविहं दब्बे भावे तह अपचक्खाणं ।

एएणुवएसेण य अकारओ वण्णओ चेया ॥२८४॥

**हितरूप उपदेश**—अप्रतिक्रमण कहते हैं परवस्तु का त्याग न करना और अप्रत्याख्यान कहते हैं कि वस्तु को मैं कभी ग्रहण न करूँगा ऐसा संकल्प न करना । ये दोनों दो प्रकार के कहे गए हैं एक द्रव्यरूप और एक भावरूप । इस सम्बन्ध में यहाँ कहते हैं कि इस द्रव्यों व भावों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है अतः आत्मा अकर्ता है, याने परद्रव्य तो निमित्त है और आत्मा में जो रागादिक भाव होते हैं वे निमित्तनैमित्तिक हैं, मेरे स्वभाव से नहीं हुए । जैनसिद्धान्त में सम्यक्त्व उत्पन्न कराने के लिए मूल में यह उपदेश किया है कि हम अपने सहज स्वभाव को पहिचाने । हमारा सहज स्वभाव है केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने का । रागादिक करने का हमारा स्वभाव नहीं है । अब ऐसा परिचय में आयेगा तो रागादिकभावों की उपेक्षा होगी । जब यह विचार बनेगा कि ये रागादिक भाव जीव के आते तो हैं मगर जीव को बरबाद करने के लिये आते हैं । ऐसा जानने से इन विकारों से उपेक्षा होगी ।

**विकार से स्व की हानि**—जैसे एक पलाश का पेड़ होता है, उसमें लाख लग जाती है तो वह लाख उस पेड़ को सुखा देने के लिए लगती है । छेवले के पेड़ में कभी लाख लग जाये तो वह पेड़ सुख जाता है । इसी तरह ये रागादिक आत्मा में लगे तो है मगर आत्मा को बरबाद करने के लिए लगे हैं, क्योंकि ये परभाव है, आत्मा का स्वभाव नहीं है । आत्मा का तो केवल जानन देखन स्वभाव है । ऐसा यदि कोई कर सकता है कि वह प्रत्येक घटना का केवल जाननहार रहे तो यह बहुत बड़ी चीज है । ऐसा तो एक विरक्त संत जिसका व्यवहार के कोई सम्बन्ध नहीं वह ही कर सकता है ।

**लक्ष्य एक और प्रवृत्ति पदवी के अनुसार**—सामान्यजन, गृहस्थजन अथवा व्यवहार में लगे हुए साधुजन यदि ऐसी कोई घटना देखते हैं कि कोई किसी पर अन्याय कर रहा हो तो अपनी-अपनी पदवी के अनुसार जिसने जैसा त्याग नहीं किया, जिसका जितना वैराग्य नहीं है । उस भाव के अनुसार वे वहाँ करुणा करते हैं, जिस पर अत्याचार किया जा रहा हो उस पर वे दया करते हैं और उस दया के परिणाम में ऐसी प्रवृत्ति करते हैं कि जिससे उसकी रक्षा हो । अब उसकी रक्षा यदि दूसरे के हटाने से होती है, बचाने से होनी है, किस बात से होती है ? यह विवेक बतलायेगा वैसा यत्र किया जाता है । कोई जगह ऐसी भी हो कि कहो बचाने से उसकी कुगति हो, जिस पर अन्याय किया जा रहा हो । उसकी पर से रक्षा कैसे हो सकती है, उसका विवेक बनायेगा और उसकी जैसी पदवी होगी वैसा यत्र होगा । जैसे-जैसे विकल्पों वाला मनुष्य है उन-उन पदवियों के अनुसार उनका कर्तव्य हो जाता है । मगर उत्कृष्ट ज्ञान की बात यहाँ कही जा रही है कि जो साधुसंत अपनी निर्विकल्प समाधि के लिए अपना विचार बनाते हैं उनका विश्वास इतना दृढ़ रहता है कि आत्मा का स्वभाव केवल ज्ञाता द्रष्टा रहने का है । आत्मा में रागादिक हों, ऐसा करना आत्मा का स्वभाव

नहीं है ।

रागादिक की अस्वभावता का एक दृष्टान्त—जैसे पानी में मुख की छाया पड़ जाती है तो पानी का स्वभाव नहीं है कि ऐसे मुख की छाया अपनी ओर से बना ले । यद्यपि वह छाया पानी में ही बनी है, पानी के ही सूक्ष्म अणुओं का इस प्रकार का आकार बन गया है, लेकिन पानी की ओर से पानी का यह आकार नहीं बनता है । किन्तु मुख का सन्निधान पाकर पानी मुख के आकाररूप परिणम गया है । इसी तरह आत्मा में रागादिकभाव होते हैं । यह घड़ी बड़ी सुन्दर है तो हम इस घड़ी से प्रेम करले, पर घड़ी हमसे प्रेम नहीं करती । यदि घड़ी हम से प्रेम करती होती तो वह गुम भी नहीं सकती थी । वह तो प्रेम करके मेरे ही पास आ जाती । तो अचेतन पदार्थों में प्रेम करने में माद्दा नहीं है । वह तो एक चेतन पदार्थ में है । मगर प्रेमभाव जो आत्मा में उत्पन्न हुआ वह आत्मा के सत्त्व के कारण नहीं होता है । आत्मा के एक्जिस्टेन्स के कारण नहीं होता है, पर कर्मोदय, बाह्यवस्तु इनका आश्रय पाकर होता है ।

हे आत्मन् ! तू अपने स्वभाव को पहिचान । तू नित्य अधिकार स्वभावी, ज्ञाता द्रष्टा रहना तेरा काम है । ऐसा तू अविकारस्वभावी अपने आपको देख तो रागादिक भाव मिटेंगे । किसी से अपना पिण्ड छुड़ाना हो तो सबसे पहिले उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है तब उससे पिण्ड छूटता है । एक ओर प्रेम भी बढ़ाते जाएँ और एक ओर प्रेम छोड़ना चाहे तो दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं । यह हाल बूढ़ों के होता है, घर के पोता पोती उसे बहुत परेशान करते हैं, और वह बूढ़ा चाहता है कि मेरी परेशानी मिट जाये, मगर उसका प्रेम भी उनसे नहीं छुटता । तो ये दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? इसी प्रकार जिसे चीजों का त्याग करना है उसे उनसे उपेक्षा भी होनी चाहिए ।

रागादिक के अकर्तृत्व का निर्णय—भैया ! अगर किसी के उपयोग में यह भाव घर कर गया कि मेरे को दुःख देने वाले मेरे रागद्वेष मोहभाव हैं, इनसे पिण्ड छुटाना चाहिये तो पहिले उसे यह जानना होगा कि रागद्वेषभाव मेरे स्वरूप नहीं है । मैं इनका करने वाला नहीं हूँ । इनसे मेरा अन्वयव्यतिरेक नहीं है । इस कारण मेरे नहीं है, इनसे मैं दूर रहता हूँ । अपने ज्ञान द्वारा पहिले रागादिकों की उपेक्षा करना है और अपना जो ज्ञानस्वभाव है उसकी ओर प्रीति करते हैं तो रागादिक छूट जाते हैं । यदि ऐसा न हो तो द्रव्य अप्रतिक्रिमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान ये हैं भावों की मलिनता के कारण ऐसा क्यों उपदेश देते हैं यदि आत्मा ही रागादिक का करने वाला होता है तो अप्रत्याग और अप्रत्याख्यान दो छोड़ने चाहिये ऐसा उपदेश तो व्यर्थ था जैसे कहते हैं ना कि परिग्रह का परिमाण करो । परिग्रह का त्याग करो । क्यों त्याग करो ? तो रागादिक भावों का करने वाला तो यह आत्मा ही हुआ ।

द्रव्य और भाव में निमित्तनैमित्तिकता—तो हां, प्रश्न यह था त्याग करने से क्या फायदा है? रागादिक को तो आत्मा अपने आप किया करता है । तो यह जो उपदेश दिया जाता, यह इस बात को सिद्ध करता कि रागादिक परवस्तुओं के संयोग से होते हैं । आत्मा अपनी ओर से रागादिक नहीं करता । इसलिए जिन्हें रागादिक न चाहियें वे चरणानुयोग की विधि से बाह्य वस्तुओं का परित्याग करें । बाह्य वस्तुओं के त्याग बिना आत्मा में स्वच्छता नहीं उत्पन्न हो सकती, जो कि इसका स्वभाव है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा के

रागादिक भावों का निमित्त कारण परद्रव्य ही है। तब यह बात सिद्ध हो गई कि आत्मा रागादिक भावों का कर्ता नहीं है। सो जब तक निमित्तभूत परद्रव्यों का त्याग नहीं किया जाता तब तक निमित्तभूत आत्मा की मलिनता का भी त्याग नहीं हो सकता।

बाह्यमल के रहते हुए अन्तर्मल के अभाव—जैसे धान एक अनाज होता है उसमें चावल होता है। उस चावल की ललाई तब तक नहीं निकाली जा सकती है अब तक चावल का बाहरी छिलका न निकाला जाये। पहिली बार में बाहरी छिलके निकालते हैं और फिर उसके भीतर की ललाई को दूर करते हैं। इसी प्रकार पहिले परवस्तु का त्याग हो, फिर ज्ञान के अभ्यास से ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी दृढ़ भावना करके अपने आपकी मलिनता को भी दूर किया जा सकता है। इसी बात को इस प्रकरण में सिद्ध किया जा रहा है कि जब बाह्य पदार्थों के साथ, कर्मों के हृदय के साथ आत्मा की मलिनता का सम्बन्ध है तो यह निश्चय करो कि आत्मा तो शुद्ध यह भगवान आत्मा मेरा प्रकट हो।

जीवमात्र में कारणपरमात्मत्व का स्वभाव—भगवान आत्मा के स्वरूप की तरह है। चीज एक है। आत्मा उसका भी नाम है और हम सबका भी नाम है। आत्मा का अर्थ है जानन देखनहार पदार्थ, पर कोई आत्मा कम विकसित है कोई आत्मा पूर्ण विकसित है तो पूर्ण आत्मा को तो कार्यपरमात्मा कहते हैं और कम विकसित आत्मा को संसारी जीव कहते हैं। पर इस संसारी जीव में अन्तर में कारणपरमात्मत्व है। यह अन्तरात्मा के उपयोग में व्यक्ति में प्रकाशमान है। प्रभु परमात्मा के प्रकाश के दर्शन से फायदा भी यह है कि बारबार प्रभु के गुणों का स्मरण करके अपने आपके स्वरूप का परिचय प्राप्त करते रहें। मैं भी ऐसा हूँ, मेरा भी स्वभाव यह है, मैं अपने स्वभाव को लक्ष्य में लू तो इस स्वभाव का विकास होगा।

दृष्टि और पुरुषार्थ—हम अपने आपको जैसा लक्ष्य में लेते हैं वैसी ही सृष्टि होती है। हम अपने को दीन मानें तो दीनरूप सृष्टि चलेगी, हम अपने को असाधारण उपयोगरूप लक्षण मानें तो उस रूप सृष्टि चलेगी। जिस-जिस प्रकार का हम अपने को मानें उस-उस प्रकार की सृष्टि चलती है। हम यदि विकाररहित केवलज्ञान दर्शन स्वरूप अपने को माने तो हमारा ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होगा। हमारा बाह्य में अनुराग करने का भाव न होगा। इसलिए जिन्हें रागादिक विकार से छूटना है उनका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि इन्द्रियों को संयत करके मन को केन्द्रित करके जगत् के पदार्थों को असार और अहित जानकर एक बार यह निश्चय करके बैठें कि मुझे बाहर में किसी पदार्थ का चिंतवन नहीं करना है तो पर के चिंतवन से विराम जब हम पायेंगे तो अपने आप ही अपने में अपना उपयोग अपने ज्ञानस्वरूप को पकड़ेगा और तब मुझे एक विलक्षण आनन्द होगा। यही अविकारी आत्मस्वभाव का ग्रहण करना होता है, इसी से मोक्ष का मार्ग मिलता है।

कल्याणमय आत्मस्वरूप—आत्मा स्वभाव से कल्याणस्वरूप है क्योंकि आत्मा का स्वरूप ज्ञानानन्दमात्र है। जैसे पुद्गल में स्वरूप की खोज की जाती है तो वहां रूप, रस, गंध, स्पर्श मिलता है तो इसी प्रकार आत्मा में स्वरूप की खोज की जाये और यह अभेदरूप से समझा जाये तो मात्र ज्ञानप्रकाश मिलना है, लेकिन वह ज्ञानप्रकाश स्वयं ज्ञान को भी वेदता है पर को भी वेदता है, ऐसे प्रकाश के स्व पर प्रतिभासकता

होने का स्वभाव भी है। वहाँ स्वस्पर्शी दर्शन है। चूंकि यह ज्ञानप्रकाश अनाकुलता स्वरूप को लिए हुए है वहाँ आकुलता रंच नहीं है, इस कारण वह आनन्द को लिए हुए है और शील तो प्रत्येक द्रव्य में होती ही है, जिसका जो स्वरूप है उस स्वरूप अपने को बनाए रहने की ताकत प्रत्येक पदार्थ में होती है। इसी प्रकार और-और भी युक्तियों से सोचने पर आत्मा में अनन्त गुण इष्ट होते हैं। पर उन सब गुणों का प्रतिनिधि कोई असाधारण गुण कहा जाये तो वह है प्रतिभासस्वरूप। यह आत्मा प्रतिभास स्वरूप है, प्रतिभासने का नाम प्रतिभास है।

**कल्याणमय पर अकल्याण की छाया**—यह आत्मा ज्योतिस्वरूप है, अतएव स्वयं कल्याणमय है, किन्तु खेद की बात है कि स्वयं कल्याणमय पदार्थ होकर भी यह परिणति में अकल्याणरूप बन रहा है। रागद्वेष मोह ये जो विपरीत परिणमन है ये अकल्याण है। एक वस्तु का दूसरे वस्तु के साथ कुछ स्वामित्व नहीं है। यह जीव अपने उपयोग में कुछ भी मानकर रहे किन्तु है यह सूना का सूना है। सबसे निराला केवल अपने स्वरूपरूप मान भी ले यह ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों को कि ये मेरे हैं, पर मान लेने से क्या है, रंच भी इसके नहीं हो पाते। लेकिन राग किए बिना और इस ही कारण राग में बाधा आने पर दोष किए बिना यह रह नहीं पाता। है यह स्वयं कल्याण स्वरूप, किन्तु खेद यह है कि अकल्याणरूप बन रहा है।

**अकल्याणवृत्ति**—यदि यह लौकिक दरिद्र है तो दरिद्रता के विकल्पों से अपने को बरबाद कर रहा है। कोई धनिक होते हैं, चक्री होते हैं, राजा बनते हैं, अटूट सम्पदा आती है तो तत्सम्बन्धी राग विकल्प करके अपने को बरबाद कर रहे हैं। आखिर छोड़ तो सब ही जाना है, रहेगा साथ कुछ नहीं, सब छोड़कर जाना है तो आगामी काल की क्या परिस्थिति बनेगी, सो वह भावानुसार बात है। यह आत्मा कल्याणस्वरूप है, पर अकल्याणमय बन रहा है। इसका कारण क्या है? प्रथम तो कारण यह है कि आत्मा अपने स्वभाव से जैसा स्वयं है वैसा न मानकर अपने को नाना पर्यायोरूप मानता है। प्रथम अपराध तो जीव का यह है और इसी अपराध के कारण यह मानता है कि मैं रागद्वेष सुख दुःख सभी का करने वाला है, यह दूसरा अपराध है।

**आत्मा के स्वरूप और कार्य का निर्णय**—इस बंधाधिकार के इस अंतिम प्रकरण में यह निश्चित किया जा रहा है कि हे आत्मन! तू नाना पर्यायोरूप परिणमता है, पर यह परिणमन तेरे साथ रहने का नहीं है, ये परिणमन मिटते हैं, परिणमन का स्वभाव ही ऐसा है कि होता है और मिटता है। जो चीज मिट जाया करती है उस चीज में अपना राग और आत्मीयता मानें पर ये मानने वाले भी खुद मिटते चले जा रहे हैं। तो पहिली बात यह है कि जो परिणतियां हैं उन परिणमनों में आत्मीयता की दृष्टि मत करो। दूसरी बात यह है कि तू अपने आपमें देख तो जरा कि तू किस काम को करने वाला है? तू ज्ञानस्वभावी है, तेरा काम प्रतिक्षण निरन्तर जानते रहने का है। कैसे जानते रहने का है? जगमग रूप से जानते रहने का है, विकार तेरा काम नहीं है।

**जगमगस्वरूप का दृष्टान्त**—जैसे एक सरसों के तेल का दिया जल रहा है रंच भी हवा नहीं है इसलिए वह लौ जरा भी हिलती हुई नहीं है, स्थिर है?। अथवा बिजली का प्रकाश ही ले लो, जब कि पावर में, उसके बहाव में कोई त्रुटि नहीं है, गलती नहीं है, ठीक तरह से काम कर रही है और वह लट्टू घंटे भर तक

स्थिर प्रकाश रखता हुआ जल रहा है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखो तो उस दीपक के लौ को व लट्टू को भी हम जगमगरूप से जलता पायेंगे । वह केवल जग ही नहीं बन रहा है किन्तु साथ में मग भी बन रहा है अर्थात् वह लौ विकास और लीनता इन दो रूपों में रहती है । जैसे कि कोई इनके तेज चलने पर व्यक्तरूप में मालूम पड़ता है कि बड़ा और घटा, अपने में संकुचित हुआ और अपने से बाहर विकसित हुआ, विकसित और संकुचित इन दो प्रवृत्तियों को कहते हैं जगमग । विकसित हो तो जग और केन्द्रित हो तो मग ।

आत्मा के जगमग स्वरूप की सिद्धि—जैसे दीपक की लौ जगमगरूप से चल रही है, बिजली का प्रकाश जगमगरूप से जल रहा है । जब कभी उस बिजली में खराबी आ जाती है तो उसका जगमग बड़ी जल्दी समझ में आता है । हरा होने का मतलब है अपने में केन्द्रित हो गया, बड़ा अर्थात् बाहर में विकसित हो गया । लौ विकसित होना और केन्द्रित होना ये दो बातें जैसे दीपक के लौ में रहती है इसी तरह आत्मा के इस ज्ञानज्योति प्रकाश में भी जगमग रहता है । जो जग का स्वरूप है वह तो ज्ञान का स्वरूप है और जो मग का स्वरूप है वह आनन्द का सर्वरूप है । अर्थात् यह आत्मा ज्ञान और आनन्द को एक साथ लिए हुए एक नियमित रूप से अपनी वृत्ति कर रहा है । ऐसा समर्थ ऐसा आनन्दमय, कृतार्थ यह मैं आत्मस्वरूप हूँ ।

अपने में परख—भैया ! सब अपने आपमें सोचे, अपने आपको निरखें कि लो यह तो मैं पूरा का पूरा ज्ञानानन्दस्वरूप सबसे निराला अपने ही ज्ञान और आनन्द के परिणमन का करने वाला परिपूर्ण शुद्ध हूँ । इस मेरे आत्मा का किसी अन्य द्रव्य के साथ किसी भी प्रकार का रंच सम्बन्ध नहीं है । पर हां जब यह आत्मा अपने आपको भूल जाता है तो निमित्तनैमित्तिक भावों से सर्वप्रथम इसके क्लेश के कारण बनने लगते हैं, और यह क्लेशों का उपादान बन जाता है । तो कल्याण के लिए दो बातें समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है । एक तो समस्त पर और परभावों से रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मैं हूँ, दूसरी बात यह है कि मैं केवल जानन वृत्ति का कर्ता हूँ, रागद्वेष सुख दुःख आदिक का मैं कर्ता नहीं हूँ ।

अध्यात्मर्म कौ दो बात—अध्यात्म के अन्दर की ये बातें विदित हो जाने पर इस प्रकार मन में ढढ़ता हो जाती है कि अपना मन किसको सौंपे? कोई भी बाह्य पदार्थ ऐसा नहीं है जो हमारे लिए हितरूप हो, शरणरूप हो, एक भी पदार्थ ऐसा नजर नहीं आता। भले ही मोहियों की गोष्ठी में रहकर कोई मोही हमारी किसी बात को देखकर अपने आपके स्वार्थ के कारण कुछ प्रशंसा की बात कहे किन्तु उसका कार्य उसके ही कथाय के अनुसार परिणम कर समाप्त हो जाता है। और यह मैं मोह राग की कल्पनाएं बढ़ा-बढ़ाकर पर की ओर आकर्षित होकर अपनी वेदना प्रकट करके अपना काम समाप्त कर डालता हूँ । एक वस्तु का दूसरे वस्तु के साथ सम्बन्ध है तो बरबादी करने वाला सम्बन्ध है, आबादी करने वाला सम्बन्ध नहीं है ।

आत्मा के रागादि के अकर्तृत्व की चरणानुयोग से सिद्धि—आत्मा रागादिक का कर्ता नहीं है, यह बात इस तरह सिद्ध की जा रही है कि देखो चरणानुयोग में मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए व्यवहार से प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना—ये तीन उपाय बताये गए हैं। प्रतिक्रमण कहते हैं पूर्व समय में जो अपना अनुभव किया है, जो रागादिक भाव किया है उसका स्मरण न करना यह तो है प्रतिक्रमण और स्मरण करना इसका

नाम है अप्रतिक्रमण । और आगामी काल में विषयों की भोगों की आशा न करना ऐसा है प्रत्याख्यान और आशा रखना वह है अप्रत्याख्यान । वर्तमान काल में जो आत्मा का उपद्रव, विभाव का उपसर्ग हो रहा है उसके यों ज्ञाता रहना कि मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है और यह उपाधि के सम्बन्ध से एक इस पर उपद्रव छाया हुआ है इसे कहते हैं आलोचना । अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जैन सिद्धान्त में दो प्रकार के बताए गए हैं । एक द्रव्यरूप, एक भावरूप । इनमें परस्पर जो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा रागादिक का कर्ता नहीं है ।

**द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण** के उपदेश से आत्मा के रागादि के अकर्तृत्व की पुष्टि—पदार्थ को न त्याग सकना, यह है द्रव्य अप्रतिक्रमण और उस पदार्थ सम्बन्धी राग को न त्यागना इसका नाम है भाव अप्रतिक्रमण । देखो इस जीव में जो भाव अप्रतिक्रमण हो रहे हैं उनको करने वाला यदि आत्मा ही होता स्वभाव से तो यह रागादिक सदाकाल रहना चाहिए था सो तो बात होती ही नहीं । अतः रागादिक भावों का आत्मा कर्ता नहीं है, किन्तु परद्रव्यों का निमित्त पाकर बाह्य वस्तुओं का आश्रय करके ये रागादिक भाव बनते हैं । इस कारण इन रागादिक का मैं कर्ता नहीं हूँ ।

प्रतीति और सृष्टि का सम्बन्ध—मैया ! यह जीव अपने को जिस स्वरूप सोचता है उस स्वरूप ही अपनी सृष्टि बनाता है । यदि कोई अपने को परिवार वाला मान रहा है तो क्यों न वह परिवार की सेवा करेगा? क्योंकि मान लिया ना कि मैं परिवार वाला हूँ । कोई अपने को यदि स्वरूप मानता है, मैं सुंदर रूप वाला हूँ तो क्यों न उसमें घमंड का परिणाम होगा क्योंकि घमंड कर सकने लायक उसने अपने आपकी श्रद्धा की । जो जिसरूप अपने आपकी श्रद्धा करता है वह उस रूप अपनी सृष्टि बनाता है । जो आत्मा अपने आपकी इस रूप श्रद्धा करता है कि मैं एक चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूँ, मैं न इस गांव का हूँ, न घर का हूँ, न देह का हूँ किन्तु अपने स्वरूप सत्त्वमात्र हूँ तो उसमें वैसी ही सृष्टि होती है ।

अपने मैं आपका यथार्थ दर्शन—जब मैं अपने स्वरूप सत्त्व के घर से निकल कर बाहर की ओर डोलता हूँ, तो इन इन्द्रियों द्वारा वह सब विदित होता है कि मकान मेरा है, घर मेरा है, परिवार मेरा है, पर हे आत्मन ! तू जो कुछ है केवल उसको ही देखकर तो बता कि तेरा कुछ है भी बल्कि जिस जीव को जिस पदार्थ में जितना अधिक राग है उस जीव का वह पदार्थ निमित्तदृष्टि से उतना ही अधिक बैरी है । वास्तव में बैरी दूसरा नहीं है किन्तु उस पदार्थ सम्बन्धी राग बनाया तो मेरा यह राग ही मेरा बैरी बन गया । मेरा बैरी दूसरा नहीं है । मेरा मित्र दूसरा नहीं है, मेरा शरण दूसरा नहीं है । मेरा ही यह मैं आत्मा अपने आपको अपने सत्य स्वरूप में तकने लगूं तो यह स्वरूप मेरा मित्र है । इन रागादिक का करने वाला मैं आत्मा नहीं हूँ । तो भी जब तक यह जीव निमित्तभूत परद्रव्यों को नहीं त्यागता है तब तक नैमित्तिक भाव रूप अपनी कल्पना को नहीं छोड़ सकता । इस कारण चरणानुयोग में इसका उपदेश दिया है कि बाह्य पदार्थों का परित्याग करो ।

**निर्भरता में स्व की अनुभूति—मैया !** सुखी होना है तो अपने को अकिञ्चन अनुभव करो, मेरा कहीं कुछ नहीं है । खूब भरपूर हो तुम सब, तिस पर भी यदि अन्तर में यह प्रतीति जगेगी कि मेरा कुछ नहीं है ।

हैं नहीं कुछ इसका वास्तव में और ऐसा अपना भाव बनेगा कि मेरा कुछ नहीं है । मेरा तो मैं ही यह अकेला हूँ, ऐसा भाव बनेगा तो शांति की झलक हो भी जायेगी और यदि अपने चित्त पर परिग्रह का बोझ ही बनाए रहे मेरे तो इतना है, मैं तो इतना हूं, मेरे तो ये सब ठाठ हैं, चाहे मुख से न ऐसा कहे मगर भीतर में प्रतीति रूप ऐसा भार बाह्य पदार्थों का रहता है तो किसी भी क्षण रंच भी आनन्द की झलक नहीं मिल सकती ।

**ज्ञानी की कला—ज्ञानी पुरुष में यह कला है हि किसी भी परिस्थिति में हो, जब अपने आपमें डुबकी लगाकर तका तो देख लिया जाता है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है । यद्यपि सत्य जानकर भी प्राक् पद में कुछ आत्मा में टिकाव नहीं रहता फिर भी इससे स्खलित होकर बाह्य पदार्थों में दृष्टि डालकर फिर वही रहठा चलाकर दुःखी होता है । हो जीव दुःखी, फिर भी जिसने कभी भी स्वाधीन आनन्द का अनुभव किया वह उसके स्मरण के प्रसाद से ही बहुतसी आकुलताओं से दूर रहता है ।**

**कर्तव्य—**अब करने योग्य कार्य क्या है—ज्ञान करना और बाह्यपदार्थों का प्रसंग दूर करना। जितना हो सके अपने आपको संभालने का काम था अपने आपको संभालकर विरक्ति लेना था । यह पद्धति प्राचीनकाल में प्रायः थी, बिल्कुल सर्वत्र थी ऐसा तो नहीं कहा जा रहा है पर दो चार प्रतिशत थी । जो अच्छे कुल के थे, ज्ञान के अच्छे, विचारधारा के अच्छे उनके काल में यह परम्परा बराबर चली जाती थी । कोई राजा है तो योग्य होने पर युवराज को राज्य देकर आप विरक्त हो जाते थे । विवेक इसी को कहते हैं । मान लो लड़के बच्चों के बीच खुद घर में रहे तो न यहाँ के रहे, न वहाँ के रहे । जब घर में बालक समर्थ हो जाता है और इस वृद्ध की कुछ चलती नहीं है लो वह न यहाँ का रहता है और न वहाँ का रहता है । तो विवेक करके सर्व समर्पित करके सर्व कुछ भार सौंप करके अपना जीवन केवल धर्म के लिए समझते थे । सो वहाँ शांति के बहुत से प्रसंग आते थे ।

**कर्ता और अकर्ता का निर्णय—**जब तक यह जीव द्रव्य का परित्याग नहीं करता तब तक आकुलताओं के भावों का यह परित्याग नहीं कर सकता है और जब तक यह जीव रागादिक भावों का त्याग नहीं करता तब तक रागादिक का कर्ता बना रहता है । जब यह जीव निमित्तभूत द्रव्य का परित्याग करता है तो इसके रागादिक भी शांत हो जाते हैं और तब यह जीव साक्षात् अकर्ता हो जाता है । आनन्द तो इसको उसका आता है जिस ओर इसकी दृष्टि लगी हो । यदि इस जीव की दृष्टि विषय-विष लगी है तो विषय-विष की दृष्टि का फल है । सो आकुलता ही हाथ आती है । यदि इसकी दृष्टि केवल ज्ञानस्वभाव में अपने स्वरूप में लगी है तो उसका फल है निराकुलता ।

**हितार्थी की दृष्टि—**इस हितार्थी पुरुष का दो तत्त्वों पर लक्ष्य है—भगवत्‌स्वरूप और आत्मस्वरूप । तीसरे को किसको दिल देना, किसमें मन स्थापित करना? कौन वस्तु ऐसी है कि जिसमें चित्त देकर हम अपने को कृतार्थ पा सकें । ये सब बाह्य पदार्थ हैं और बाह्य होने के नाते दूसरों के लिए धोखा स्वरूप है । ये बाह्य पदार्थ धोखा नहीं देते किन्तु ये बाह्यपदार्थ अपने ही स्वरूप में रहते हैं, हम ही धोखा खाते हैं । मुझे धोखा देने वाला दूसरा नहीं है । हम ही कल्पना करके धोखा खाते हैं, सुख दुःख भोगते हैं । तो जिस क्षण

हमें अपने आपका अनुभव होगा, एकत्व का अनुभव अकेलेपन का अनुभव हो तब हमें शांति मिलेगी ।

**अपने एकत्व की समझ—भैया !** हम बहुत गहरी बात नहीं समझ सकते तो कम से कम इतना तो जानते रहें कि मैं इस जगत् में मेरे लिए अकेला ही हू, इतनी बात तो जानते रहे । यह बात तो साधारण पुरुष भी जानते हैं । कुछ पढ़े लिखे भी जान सकते हैं और उत्कृष्ट योगी पुरुष भी जान सकते हैं । मैं सर्वत्र अकेला हूँ, इस बात को कौन नहीं जान सकता । भले ही कोई किसी हद तक अकेला जान सके, कोई और विशेष हद तक अकेला जान सके पर अपने आपको अकेला समझ सकने में कौनसी कठिनाई है ? आंखों देखते हैं कि शरीर से विमुक्त होने के बाद लोग इस शरीर को जला डालते हैं । वह अकेला ही जलता है और लोग तो देखने वाले होते हैं ।

**व्यवहार में भी अकेलापन—**इस परस्पर के व्यवहार में भी देख लो, आपको जैसा कषाय उत्पन्न होता है उसके अनुसार आप कार्य करते हैं और जैसा हममें कषाय भाव उत्पन्न हुआ वैसा हम कार्य करते हैं । हैं क्या कोई ऐसा, जो अपनी प्रकृति को छोड़कर दूसरे की प्रकृति में मिल जाये । स्वरूप ही नहीं है ऐसा । तब फिर अकेला हुआ ना मैं, अकेले ही हुए ना आप और अन्दर चलिए । मेरा तो साथ यह मेरा राग परिणाम भी नहीं निभाता । जिस राग को बसाकर, परिणाम को बढ़ा-बढ़ाकर हम अपने को समृद्ध मानते हैं वह राग भी तो हमारा साथ नहीं देता है, होता है और मिट जाता है । तो हुआ ना मैं अकेला । अपनी-अपनी हद के अनुसार प्रत्येक पुरुष अपने को अकेला अनुभव कर सकता है ।

**एकत्व और आकिञ्चन्य के दर्शन की महिमा—**आपको अकेला अनुभव करना और अकिञ्चन अनुभव करना—ये दो बातें तो मूल से धर्ममार्ग में बढ़ाती हैं । इन्हें कौन नहीं कर सकता है ? जैसे शाम के समय जब गायें अपने घर आती हैं जंगल से तो अपने बछड़ों की याद में दौड़ती हुई आती है । जो गाय लंगड़ी है, टांग टूटी है, छोटी पूछ है वह गाय अपनी कटी पूछ को ही घुमाती हुई दौड़ती हुई आती है और जिन गायों की टांगे ठीक हैं, लम्बी पूछ हैं वे अपनी लम्बी पूछ को हिलाती हुई बड़ी तेजी से दौड़ती हुई घर आती हैं । इसी प्रकार कल्याणार्थी पुरुष अपने एकत्वरूप, अकेलेरूप और अकिञ्चनस्वरूप को जान सकते हैं । जिसके जितना ज्ञान है उतने ज्ञान से ही अपने को अकेला समझेगा और अकिञ्चन जानेगा और जिसके साधारण ज्ञान है वह भी अपने को अकेला और अकिञ्चन जान सकता है । अपने को जितना अकेला और अकिञ्चन तकोगे उतना ही आनन्द प्राप्त होगा और अपने को जितना दुकेला और मेरा कुछ है, इस प्रकार का बोझ लादोगे उतना ही इस अमूर्त ज्ञानस्वरूप आनन्द से खिन्न रहोगे ।

**संकट के क्षय का उपाय—भैया !** अपने को अकेला और अकिञ्चन अनुभव करो । जब भी कोई क्लेश हो, परीक्षा करके देख लो । यदि अपने को अकेला और मेरा कहीं कुछ नहीं है ऐसा यदि देख सकते होंगे तो संकट अपने आप टल जायेंगे, क्योंकि संकट तो इसी का था कि यह मान रखा था कि मेरी चीज है, इस चीज का परिणमन इस प्रकार होना था । जैसा परिणमन पर में चाहता था वैसा नहीं हुआ, लो इसी से खेद खिन्न हो गये थे । जब यह जाना कि मेरा कहीं कुछ नहीं है तो सारे क्लेश मिट गए । इस कारण अपने को सुखी रखने के लिए खूब ध्यान लगा कर अपने को अकेला और अकिञ्चन मानने का यत्न करना चाहिए ।

अब द्रव्य और भाव का निमित्तनैमित्तिक भाव है। इसका एक उदाहरण देते हैं।

## गाथा २८५-२८६

आधाकम्माईया पुगलदव्वस्स जे इमे दोसा ।

कह ते कुब्बइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८५॥

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।

कह ते मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८६॥

निमित्तनैमित्तिकभाव का एक उदाहरण—यहाँ यह बतला रहे हैं कि उपाधिरूप द्रव्यों का, पदार्थों का आत्मा के विकार भाव में निमित्तपना है। जैसे पुद्गल द्रव्य के जो अधःकर्मादिक दोष होते हैं उनको ज्ञानी जीव कैसे करेगा क्योंकि वे सदा पुद्गलद्रव्य के गुण हैं और ये अधःकर्मादिक पुद्गलमय द्रव्य हैं, इसे ज्ञानी जानता है। ये सदा अनित्य हैं, ये मेरे किए हुए कैसे हो सकते हैं? आचार्यमहाराज कुन्दकुन्ददेव अपनी आध्यात्मिक शैली से सीधी बात यह कह रहे हैं कि जिन मुनियों के आहार में अधःधर्म का दोष होता है अर्थात् हिंसापूर्वक बिना अच्छी प्रकार सोधे जो आहार बनता है उसे अधःकर्म दोष कहते हैं। उस अधःकर्म दोष का करने वाला मुनि नहीं है। वह तो पुद्गलमय चीज है। लेकिन अधःकर्म दोष वाले या उद्दिष्ट दोष वाले आहार को ग्रहण करने पर मुनि के दोष ऋषि संत बताते हैं। यह निमित्त-नैमित्तिक भाव का ही तो उदाहरण है।

अधःकर्मदूषित आहार का निमित्तत्व—अधःकर्म का अर्थ यह है खोटी विधि से आहार बनाया जिसमें हिंसा का बचाव नहीं हुआ, असंयम से द्रव्योपार्जन किया, ऐसे ही अपवित्र भावों से बिना देखा-भाला भोजन बनाया वह अधःकर्म है। सो अधःकर्म दोष और उद्दिष्ट दोष—ये पुद्गल सम्बन्धी हैं पर जैसा भोजन करें तैसा भाव होता है, यह एक उदाहरण में बात रखी है। इसी तरह द्रव्य को न त्यागने वाला मुनि द्रव्य के नैमित्तिकभाव और बंध के साधक विकार भावों का भी त्याग नहीं कर सकता।

अविकारी आत्मस्वभाव की दृष्टि—परद्रव्य निमित्त होते हैं पर के विकार में, ऐसा सिद्ध क्यों किया जा रहा है? यह बताने के लिए कि आत्मा में जो रागादिक भाव होते हैं उन रागादिक भावों का करने वाला आत्मा नहीं है, वह निमित्त पाकर हो जाया करता है। इस प्रकरण से यह शिक्षा मिलती है कि हे निज आत्मन्! तू अपने हित के अर्थ अपने आपके शुद्धचैतन्यस्वरूप को देख। तुझ में तेरे ज्ञायकस्वभाव से अतिरिक्त स्वभावतः और कुछ तत्त्व नहीं है, विकार नहीं है। जो विकार तेरे में प्रकट होते हैं उनमें परद्रव्य निमित्त हैं। यह बंधाधिकार है, बंधाधिकार में यह समर्थन है कि आत्मा का बंध कैसे दूर होता है? जितने भी ऋषि संतों के उपदेश हैं उनका प्रयोजन यही है। आत्मा की अपने स्वभाव पर दृष्टि जाये—इतने प्रयोजन के लिए ही सब नयों का वर्णन है। नयों का वर्णन नयों को बताने के लिए नहीं है, किन्तु उसका वर्णन आत्मस्वभाव पाने का उद्यम करने के लिए है।

उपदेश का प्रयोजन आत्मस्वरूप की दृष्टि कराना—जैसे कहीं यह कहा गया है कि आत्मा के सुख

दुःख को कोई दूसरा पैदा नहीं करता है। उसका प्रयोजन यह है कि जीवों की जो यह दृष्टि लगी है पर की ओर कि मेरे सुख दुःख को अमुक ने पैदा किया और इस दृष्टि के कारण विरोध और द्वेष जगता है वहां यह समझाया गया है कि देखो दूसरे के कुछ किए जाने पर सुख दुःख नियम से ही हों, ऐसा तो कुछ है नहीं। दूसरे प्रयत्न करते हैं मेरे सुख अथवा दुःख के लिए किन्तु मेरा परिणमन बने तो बने और न बने तो कोई न भी बने। इस कारण दूसरा कोई तुझे सुख दुःख नहीं आता। तू अपना स्वरूप संभाल। तेरे स्वरूप की संभाल बिना ही कल्पना से तेरे में सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। स्वभाव के संभाले जाने पर कल्पना को दूर किए जाने पर फिर ये लौकिक सुख और दुःख न रहेंगे। तू अपने स्वाधीन आनन्द को भोगता रहेगा।

**अपवित्रता की नैमित्तिकता**—यहां दृष्टान्त में साधु के आहार को रखा है। साधु यदि सदोष आहार करते हैं, सदोष आहार करने के निमित्त से उनके भावों में अपवित्रता आती है। यह भावों की अपवित्रता देखो नैमित्तिक हुई या नहीं। इस दृष्टान्त को देकर यहाँ यह सिद्ध किया है कि तेरे में जो रागादिक भाव होते हैं वे नैमित्तिक भाव हैं, तेरे स्वभाव नहीं हैं। तू इन भावों की रुचि छोड़, इन परभावों से रहित अविकार स्वभावी आत्मतत्त्व को देख।

**पर का अकर्तुत्व**—इस दृष्टान्त के वर्णन में आगे यह कह रहे हैं कि जो अधःकर्मादिक पुद्गल द्रव्यों के दोष है उनको यह आत्मा नहीं करता, क्योंकि आत्मा का कार्य नहीं है कि वह परद्रव्यों का परिणमन करे। परद्रव्यों के परिणमन में परद्रव्यों का परिणमन कारण होता है। तब अधःकर्म और उद्दिष्ट दोष ये तो पुद्गलद्रव्यभूत पुद्गल की बात भी अचेतन है सो मेरा कार्य नहीं है। ऐसा तत्त्वज्ञान बनाकर उस पुद्गल कर्म का, उस निमित्तभूत आधार का जो त्याग कर देता है वह निमित्तभूत बंध भावों से भी दूर हो जाता है। इसी तरह जो ज्ञानीसंत समस्त परद्रव्यों का त्याग करते हैं वे उन परद्रव्यों के निमित्त से होने वाले समस्त भावों का त्याग करते हैं। इस तरह द्रव्य में और भाव में निमित्तभूत सम्बन्ध है।

**क्लेशमयी कल्पनायें**—देखो भैया! यह सारा विश्व अपनी कल्पनावश अपनी धुन में चला जा रहा है। रागरहित ज्ञायकस्वभावमात्र अपने आपके स्वरूप का स्पर्श नहीं करता और कितना अंधेरे से यह आत्मा दौड़ा चला जा रहा है। अपने आपके स्वरूप की स्मृति नहीं करता और इस गहन अंधकार में निरन्तर दुःखी रहता है। आत्मा को दुःख का क्या काम, उद्घट्ता कर रहा है इसलिए दुःख है। बाह्य पदार्थ कुछ हमारे रंचमात्र लगते भी है क्या? घर वैभव लोक इज्जत, ये कुछ हमारे इस अमूर्त आत्मतत्त्व में चिपटते हों, लगते हों ऐसी कुछ बात होती है क्या? ऐसी कुछ भी बात नहीं है पर जगत के मायामय मोहीं जीवों पर दृष्टि देकर उनमें अपनी कुछ शान बनाने के लिए कितने रूपक बनाये जा रहे हैं?

**रागपरिहरण का उद्यम**—भैया! काम कोई न आयेंगे न यह वैभव और न ये लोग। कोई भी हमारा मददगार न होगा, पर देखो मोह की बुद्धि ऐसी पड़ गयी, इसकी बुद्धि ऐसी अपवित्र हो गयी कि अपने कषायभावों में, अपने विकारभावों में ऐसा एकमेक बन रहा है कि अपने परिणामों से यह रागादिक भावों को अलग नहीं कर सकता। जीव को विभावों की रुचि का इतना दृढ़ बंधन है कि छोड़ा नहीं जाता। कोई-कोई कहते कि मुझसे परिवार नहीं छोड़ा जाता है। अरे परिवार तो छुटा ही है। परिवार विषयक चित्त में जो

राग है वह राग नहीं छोड़ा जाता है। परविषयक राग छोड़ने के लिए कर्तव्य है कि इस आत्मस्वरूप को देखें। ये जो रागादिक औपाधिक भाव हैं वे बरबादी के ही कारण हैं। इनसे हित नहीं है।

**निज प्रभु पर उपसर्ग—भैया !** रागादिक भावों से अपने को निराला तक तो तेरा प्रभु तुझे मिलेगा, नहीं तो रागादिक परेशानियां तेरी दूर न होंगी। कैसा उपसर्ग है इस अपने आपके प्रभु पर? यह मन दौड़ा चला जाता है अहित की बातों में। जिनमें कुछ भी सार नहीं है ऐसी कल्पनाएं वे जकड़ लेते हैं कि उनमें असावधानी हो जाती है अथवा बेहोशी छा जाती है। इस बेहोशी को दूर करके अपने आपके सहजस्वरूप को निरखना है। आनन्द कहा बाहर ढूँढ़ना है? स्वयं तो आनन्दस्वरूप है।

**मार्गप्रकाश—इन ऋषि संतों की करुणा का बदला कौन दे सकता है?** जिन ऋषि संतों ने अपनी साधना करके वस्तुस्वरूप को समझकर हम जैसे साधारण जनों को ऐसे सुगमरूप में रख दिया है कि हम भी कल्याण का मार्ग जानने लगें। सदा के लिए संकट मिटा देने का, उपाय बना देने वाले कितने उपकारी जीव होते हैं? उनकी महिमा को कौन कह सकता है? जरा इन्द्रियों को संयत करके, मन को अपने आपके स्वभाव पर रोक करके अपने आपके ही स्वरूप को कुछ देखें तो यह अकेला, अकिञ्चन ऋद्धिसम्पन्न प्रभु अपने आपकी दृष्टि में आयेगा और यह मैं केवल अपनी दृष्टि में रहूँ तो जगत् के पदार्थों की चाहे कितनी भी खलबली मच रही हो पर यह क्षोभ नहीं आ सकता। यह क्षोभ आता है तो खुद की कल्पना के कारण आता है।

**मोह की उद्धतता—भैया !** यह कैसा नाच है? क्या सम्बन्ध है एक का दूसरे से। है तो सभी जीव अत्यन्त न्यारे, सभी जीव अपने आपमें अपनी कल्पना मचाकर अपने आपका कार्य पूर्ण करने मात्र में लगे हैं। इसके सिवाय कुछ हो नहीं रहा है किसी पर का किसी पर में कुछ, लेकिन यह मोही जीव अपनी कल्पना में सारे विश्व को चबा रहा है, निगलना चाहता है। सो चाह ही चाह है, होता कुछ नहीं है। तो मन को स्वच्छ रखिये। क्लेश नहीं सहना है तो अपने आपको एकत्व स्वरूपमय देखिए केवल देखिए। इस बंधन से निवृत्त होने के लिए कुछ भावना भायें कि मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप स्वभाव वाला हूँ।

**स्वरूप का ग्रहण—स्वरूप होता है पदार्थों में; पुद्गल में रूप, रस आदिक होते हैं तो मेरे में क्या स्वरूप मिलेगा?** यह मूर्तिक चीज तो है नहीं जो टटोलने में आ जाये। यह आत्मा ज्ञानमात्र अमूर्त पदार्थ है। इसका समझना ज्ञान द्वारा होगा। इसका ग्रहण करना ज्ञान से होगा और ज्ञानरूप विधि से होगा और ज्ञानरूप में ही होगा। दूसरी प्रकार इस आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। अपने आपको देखिये—यह तो सहज जानवृत्ति रूप है, निर्विकल्प है, इसका विकल्प करना स्वभाव नहीं है। वह मैं सर्व परवस्तुओं से उदासीन हूँ, प्रत्येक पदार्थ पर से उदासीन है। कोई वस्तु किसी दूसरे वस्तु से लेन-देन नहीं रखता। जो निमित्त-नैमित्तिक भावपूर्वक कार्य हो रहे हैं वे भी इस तरह हो रहे हैं जैसे कि परिणम सकने वाला उपादान अनुकूल निमित्त को पाकर स्वयं के प्रभाव से, स्वयं की परिणति से विकाररूप परिणमता है। निमित्तभूत परद्रव्य इसमें विकार स्थापित नहीं करते हैं। यह उपादान स्वयं अनुकूल निमित्त को पाकर चूँकि ऐसी ही योग्यता वाला है सो अपना प्रभाव प्रकट कर लेता है।

**सकलविविक्तता**—एक द्रव्य का दूसरे से लेन-देन कुछ नहीं हुआ पर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, लेन-देन भी नहीं और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अभाव भी नहीं। हम बोल रहे हैं, आप सुन रहे हैं, इस स्थिति में हमने आपसे क्या लिया और आपने मुझको क्या दिया? कुछ भी नहीं। आप अपने स्वरूप में रहते हुए अपना परिणमन कर रहे हैं, हम अपने स्वरूप प्रदेश में रहते हुए अपना परिणमन कर रहे हैं। निमित्तनैमित्तिक भाव तो हो गया कि आप मेरी बात सुनने के निमित्त से अपने में किसी प्रकार की ज्ञानधारा बना रहे हैं और आप लोगों को सुनने के रुचिया जानकर हम अपने में अपनी चेष्टा कर रहे हैं फिर भी आपने हमें कुछ दिया हो या हम से कुछ लिया हो तो बता दीजिए। आप भी अकेले सूने के ही सूने हैं और हम भी अकेले सूने के ही सूने हैं। जो मुझमें है वह मुझसे बाहर नहीं जाता, जो मुझमें नहीं है वह किसी दूसरे पदार्थ से नहीं आता।

**धर्मश्रय**—वस्तु का ऐसा स्वतंत्रस्वरूप जिन संतों की वृष्टि में दृढ़तापूर्वक घर कर गया है, उन संतों ने इस संसार को पार कर लिया समझिए और जिन्हें इस वस्तुस्वतंत्रता की खबर नहीं है उन जीवों ने अपने आपको अँधेरा स्वरूप बनाकर अपने आपको संसार गर्त में डाल दिया। धर्मपालन के लिए बाहर के आडम्बर नहीं करना है। बाहर के आडम्बर और आलम्बन तो करने पड़ते हैं इस कारण विषय कषाय और **अशुभोपयोग** में जो रमता चला आया है उसको उस कठिनता से अशुभोपयोग से निकलने का सुगम आलम्बन कुछ होना चाहिए। बाह्य आलम्बन के रहते हुए भी जितना अपने आपमें आपके स्वरूप का दर्शन और आलम्बन है उतना तो किया धर्म का पालन और शेष किया मंदकषाय का अनुभवन और उससे होने वाली विशुद्धि से हुआ एक तृप्ति का अनुभवन।

**ज्ञानमार्ग**—भाई यह मार्ग बड़ा उत्कृष्ट मार्ग है, यही ज्ञान का मार्ग है। भक्तिमार्ग से भी ऊँचा उत्कृष्ट जो मध्यमार्ग का अनन्तरपूर्व भाव है उस मार्ग की कथा चल रही है कि समग्र वस्तुवों को केवल उन-उनके स्वरूप में देखा जाता है। एक वस्तु का दूसरे वस्तु के साथ यदि सम्बन्धबुद्धि का भाव नहीं रहता है तो यह संकटों से छूट सकता है। इस जीव पर संकट है कहां? परवस्तुवों से, पर है अपनी जगह, तुम हो अपनी जगह। पर, परवस्तुविषयक जो कल्पना बना ली है उस कल्पना से दुःखी हो रहा है। बाहर में चाहे अच्छा वातावरण हो पर तुम्हारी कल्पना में यदि दुःखपूर्ण वातावरण छाया है तो तुम तो दुःखी ही हो। चाहे बाहर में पड़ौस में दुःखपूर्ण वातावरण हो किन्तु आप सुखपूर्ण भावों से भरे हो तो आपको कोई क्लेश नहीं है। हमने अपनी ज्ञानधारा को विपरीत मोड़ा सो दुःखी है और अपनी ज्ञानधारा को हम सही लक्ष्य में मोड़ लें तो अभी भी हम सुखी हैं।

**ममत्व दूर करने का यत्न**—मेरे सुख दुख का देने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। मेरी ही कल्पना में रागद्वेष मोह के भाव बन रहे हैं, ऐसा जानकर है हितार्थी आत्मन्! तू अज्ञान अँधेरे को दूर कर। एक ही प्रयत्न कर कि वस्तु का अपने सत्त्व के कारण जैसा स्वरूप है उस स्वरूप में ही अपने को तू देख। ऐसे वस्तुस्वातंत्र्य का निरीक्षण तेरे लिए हितकारी होगा अन्य कुछ भी तुझे हितकर नहीं है। कुछ क्षण तो लोक

प्रसंगों से हटकर अलौकिक उत्कृष्ट निज ज्ञानस्वभाव में तो स्थिर हो । इस अनादि अनन्त संसार में कितनी सी जगह है जिसमें तू ममत्व कर रहा है । ये कितने से प्राणी है जिनमें तू ममता कर रहा है । यह कितनासा सम्बन्ध है जिसके लिए तू ममत्व कर रहा है । यहाँ के मेरे कहीं राजू पर्यन्त पहुंच जावेगे फिर क्या रहेगा तीन लोक और तीन काल का पूरा विस्तार देखना और उसका ध्यान करना, इसे धर्मध्यान का उत्कृष्ट ध्यान बताया है । उसका नाम है संस्थान विचय । तू दृष्टि पसार तीन लोक का विस्तार देख । तीनों लोक का फैलाव देख तो तेरा मोह दूर होगा और मोह के दूर होने से तुझे अपने आपमें शांति प्राप्त होगी ।

**आहार और परिणाम—साधु जनों के आहार के विषय में किसी प्रकार की चिंतना नहीं चलती ।** आहार सरस हो या नीरस हो, उसमें समान बुद्धि रहती है । उनका मान हो या अपमान हो उसमें भी उनकी समता रहती है । जब आहार विषयक कोई रागद्वेष नहीं है तब आहार ग्रहण करके भी आहार ग्रहणकृत ज्ञानी संतों के बंध नहीं होता । फिर भी आहार ग्रहण से पूर्व उस पात्र के ही निमित्त से कोई भोजनादिक बनाया जाये तो वह उद्दिष्ट है, साथ ही हिंसा का बचाव न करके वह बनाया हो तो अधःकर्म दोष है । यह दोष उस पुद्गलद्रव्य में ही है, उसको साधु ने नहीं किया, किन्तु उसको निमित्त पाकर साधु पुरुष के अयोग्य होने के कारण विकल्प हुआ । वह बंध का कारण बनता है । सो वहां भी बंध हुआ साधु के परिणाम के कारण और साधु के परिणाम बनाने में निमित्त हुए वे बाह्य पुद्गल।

**परकृत बन्ध का अभाव—पुद्गलद्रव्य के परिणमन के कारण साधु के बंध नहीं हुआ ।** यदि परद्रव्यों के परिणमन के कारण बंध हो जाये तो फिर कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता । इस प्रकार विचार करके अर्थात् परद्रव्यों और अपने परिणामों का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसा जानकर समस्त परद्रव्यों को अपने पुरुषार्थ से त्याग दें और फिर निमित्त को त्याग करके अपने विभावों की परिपाठी को भी दूर कर दें । ऐसी स्वच्छता होने पर धाराप्रवाह रूप से अपने आत्मा में ज्ञान चलता है । अब ज्ञान से युक्त अपना आत्मा अपने आत्मा को परिणमा रहा है । इस वृत्ति के होने पर जब कर्मबंधन उखड़ जाये तो यह ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा अपने आपमें प्रकट होता है।

**परसंग के त्याग का उपदेश—यहाँ यह उपदेश देते हैं कि हमारा भाव जो बिगड़ता है वह किसी परपदार्थ के संग से बिगड़ता है ।** यदि किसी परपदार्थ का संग न हो तो फिर भाव कैसे बिगड़े ? कोईसा भी बिगड़ा भाव ऐसा बताओ कि जिसमें किसी परवस्तु का ख्याल न किया गया हो और बिगड़ हुआ हो । किसी भी प्रकार का पाप का परिणाम हो । पाप का परिणाम होगा तब ही जब किसी परपदार्थ का ख्याति बनाए । तो हमारे बिगड़े भावों में निमित्त पड़ते हैं कोई परद्रव्य । इससे यह सिद्ध है कि मेरे भावों का बिगड़ मेरे स्वभाव से नहीं होता । वह बिगड़ किसी परपदार्थ के सम्बन्ध का निमित्त पाकर होता है । तब क्या करना है? ऐसा जानकर अपने विकार भावों से उपेक्षा रखना है । ये मेरे स्वभाव से नहीं उत्पन्न होते और फिर जैसा अपना सहज ज्ञायकस्वरूप है उस रूप ही अपनी दृष्टि करना, यही है बंध से छूटने का उपाय । इस उपाय से यह आत्मा अपने आपके आत्मस्वरूप में विकसित हो जाता है ।

**कर्म बन्ध का निमित्त विभाव परिणाम—भैया !** जो हमारी परतंत्रता के कारण है वे कर्म हमने खुद ही

तो बांधे । हमारे कर्मों को कोई दूसरा नहीं बांधता है, हम ही खोटा परिणाम करके अपने कर्मों को बांधते हैं और जब उन कर्मों का उदय आता है तो फिर मलिन परिणाम होता है । हम वहाँ पर केवल अपना परिणाम ही खराब बनाते हैं, फिर बाह्य में जो कुछ होता है वह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश स्वयं होता है । कितनी ही बाह्य परिस्थितियां हों वहाँ जो बंधन हुआ है वह हमारे राग परिणाम से हुआ है, बाहरी चीजों से बंधन नहीं हुआ है । देखो यह सारा विश्व कार्मण वर्गणावों से भरा हुआ है, फिर भी यह जीव कर्मों से बंधता है तो खुद का रागद्वेष मोह भाव होता है सो बँधता है । अनेक तरह की क्रियाएँ इस जगत में देखी जाती हैं, किन्तु जीव का जो बंधन होता है वह रागद्वेषमोह भाव से होता है ।

**परपदार्थ में विभाव की आश्रयभूतता—रागद्वेष मोह होता है दूसरे जीवों का ख्याल करने से ।** जो कुछ भी विकल्प उठता है वह दूसरे जीवों को कुछ बताने के लिए उठता है । जैसे आप बड़ा मकान बनवाते, बड़ा धन जोड़ते, तो मकान के लिए मकान नहीं बनाते, धन के लिए धन नहीं जोड़ते किन्तु दूसरे लोग समझ जायें कि ये बड़े पुण्य वाले हैं ऐसा दूसरों को समझाने के लिए ही लोग धन जोड़ते हैं । धन के लिए धन कोई नहीं जोड़ता । दूसरों की निगाह में मैं महान् रहूं इसके लिए जोड़ते हैं अचेतनपदार्थ और फिर इससे भी अधिक गहरे मर्म में जायें तो दूसरे जीवों को खुश करने के लिए भी वास्तव में चेष्टा नहीं होती किन्तु अपने आपमें जो रागभरी कल्पनाएँ हुई हैं वह सराग को ही पुष्ट रखने के लिए चेष्टाएँ हुई हैं ।

**हितप्रेरक उपदेश—तब ऐसी स्थिति में आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि देखो किसी जीव का किसी दूसरे जीव से कोई सम्बन्ध नहीं है ।** सब अपने-अपने प्रदेश के स्वामी है, हम दूसरे जीव का कुछ नहीं कर सकते । हम न किसी जीव को सुखी कर सके और न दुःखी कर सकें, न उनका जीवन दे सकें और न उनका मरण कर सकें और इसी प्रकार दूसरे जीव भी कोई कुछ नहीं कर सकते । फिर इस जगत में अपने इस पर्याय को प्रसिद्ध करने का, ख्याति करने का क्यों भाव रखते हो ? प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूप में है, पर के स्वरूप से रहित है, सूना है । यह सारा विश्व सूना है । विश्व का अर्थ है ६ जाति के द्रव्यों का समूह । उस समूह में एक-एक द्रव्य सब आ गए । प्रत्येक द्रव्य दूसरे समस्त द्रव्यों से पूर्णतया रहित है । किसी भी द्रव्य का प्रदेश गुण पर्याय कुछ भी किसी दूसरे में नहीं है । इस दृष्टि से देखो तो प्रत्येक द्रव्य सूने है, हम सूने हैं, आप सूने हैं, सब सूने हैं तो सारा विश्व शून्य है । फिर क्यों नहीं अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीति करते और सुखी रहते ?

**आत्मप्रभु पर विकल्पों का प्रहार—ये जो तरंग कल्पनाएँ उठती हैं, इस जगत में जितने भी जो कुछ सुख दुःख, जन्म मरण आदि होते हैं वे उन जीवों के अपने-अपने उपार्जित कर्मों के उदय से होते हैं ।** किसी के कर्मों को कोई दूसरा नहीं दे सकता है और न हर सकता है । इस कारण व्यर्थ के विकल्प क्यों करो ? मैं दूसरे को सुखी करता हूँ दुःखी करता हूँ, ये व्यर्थ के विकल्प है, क्योंकि तुम कुछ कर सकते नहीं और मान रहे हो, इस मान्यता से तुम अपने आपकी आत्मा की हिंसा कर रहे हो । तुम्हारा जो प्रभुस्वरूप है, जिस ज्ञान के द्वारा समस्त लोक को, त्रिकालवर्ती पदार्थ को एक साथ स्पष्ट जाना जा सकता है वह ज्ञान कुण्ठित हो रहा है, अविकसित है, यह प्रभुस्वरूप पर ही तो प्रहार है ।

**आत्महिंसा**—इस प्रभु में ऐसा अलौकिक अनुपम आनन्द है कि जिस आनन्द में न कोई पराधीनता है, न कोई इसका विच्छेद है, न इसमें घटा बढ़ी है। उत्कृष्ट आनन्द इन जीवों में है किन्तु अपने यथार्थस्वरूप को न जानने से बाह्य पदार्थों में ऐसी बुद्धि होने से यह जीव दुःखी हो रहा है, अपने आनन्दभाव का घात कर रहा है। यहीं तो है हिंसा। तुम अज्ञान करके, विभाव करके अपनी हिंसा करते चले जा रहे हो।

**स्व के भाव से स्व की सृष्टि**—देखो भैया! जो कुछ तुम बनते जा रहे हो सो अपने परिणाम से बनते जा रहे हो। जैसे सांप लम्बा पड़ा रहे, गोल बन जाये, टेढ़ा बन जाये, जैसा चाहे वह अपने को अपने बल से बनाता है, इसी तरह है आत्मन्! तुम अपने को अपने बल से जैसा चाहे बनाते चले जा रहे हो। नारकी, तिर्यश्च, मनुष्य देव इन गतियों रूप अपने को बना रहे हो, सो भी तुम अपने परिणाम से बना रहे हो। संसार भावों से हटकर मोक्ष के मार्ग में लग रहे हो सो भी अपने परिणामों से लग रहे हो। अपने को मुक्त बनावोगे तो अपने परिणाम से बनावोगे, अतः परवस्तु का कुछ मुझे बंधन है ऐसे मिथ्या विकल्प को छोड़ो।

**व्यवहार का विरोध न करके निश्चय का आलंबन**—निश्चय की दृष्टि का आलम्बन एक अमूर्त तत्त्व कहा गया है, परन्तु व्यावहारिकता में कार्य कारण भाव भी है, इसका विरोध न करके निश्चय का आलम्बन अमृतपान कहा गया है। इस निश्चयदृष्टि में केवल एक अपना आत्मा देखा जा रहा है। बुरा बन रहा है तो अपना आत्मा देखा जा रहा है, भला बनता है तो अपना आत्मा देखा जा रहा है। जहाँ केवल अपना आत्मा ही देखा जाता हो अन्य द्रव्यों पर दृष्टि न हो तो यह कब तक बुरा बनेगा? इसका बुरापन शीघ्र ही नष्ट होगा। ऐसा उपदेश देकर आचार्य देव ने समस्त परद्रव्यों का आश्रय छुड़ाया है। कर्मबंध होता है तो किसी परद्रव्य में ख्याल करके होता है। कर्मबंध न करना हो तो परद्रव्यों का सहारा छोड़ दो। जब केवल स्व के आधीन स्व का उपयोग रहेगा तो कर्मबंध रुक जायेगा।

**व्यवहारपूर्वक व्यवहार का प्रतिषेध**—व्यवहार तो प्रतिषेध के लिए है, परन्तु सविधि व्यवहारपूर्वक व्यवहार का प्रतिषेध होना है। यदि विधि पूर्वक व्यवहार नहीं है तो ऐसे व्यवहार से हटे हुए जीवों का कल्याण नहीं है और व्यवहार धर्म भी खूब किया जा रहा है और अपने आपके ज्ञानस्वरूप का परिचय नहीं है तो कितने ही व्रतादिक किए जायें, उससे मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। अपने कल्याण के लिए करना क्या है? इंद्रियों को संयत करें, आंखों को बंद करें और अंतर में मन के द्वारा परपदार्थों का विकल्प न करें तो ऐसी स्थिति में मन को परमविश्राम मिलता है और उस परमविश्राम के कारण अपने आप ही अपने आप उस ज्ञानज्योति का अनुभव होता है। जहाँ केवल अपना ज्ञायकस्वरूप ही अनुभव में आए तब इसके उत्कृष्ट स्वानुभव होता है।

**स्वानुभव की उत्कृष्टता और उसका उपाय**—स्वानुभव ही जगत में उत्कृष्ट तत्त्व है। जितनी आत्मसिद्धि होती है वह स्वानुभव के प्रसाद से होती है। जिनके स्वानुभव हुआ है उन्हें अपने आपको अभेदरूप से जानने से होता है। जिन्होंने अपने आपको अभेदरूप से जाना है उन्होंने अपने अभेदस्वरूप का परिचय पाने से जाना है। अपने स्वरूप का परिचय जिन्हें हुआ है उन्होंने अपने और पर के यथार्थस्वरूप को पहचाना है। अर्थात् सब भेदविज्ञान की महिमा है। भेदविज्ञान होता है यथार्थ निर्णय करने से। जैसा वह पदार्थ है, जिस गुण में तन्मय है, उन-उन रूप उन पदार्थों के परिचय से भेदविज्ञान होता है। यदि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा

अपने ज्ञान में है तो मोक्षमार्ग है और यदि ज्ञान का सहारा नहीं है तो वचनों से जीवादिक पदार्थों का नाम लेते जाएँ और अनेक शास्त्रों का ज्ञान करते जाएँ और दया वृत्ति समिति इनका खूब पालन करते जाएँ तब भी इन जीवों को शांति नहीं आ सकती है मोक्षमार्ग नहीं मिलता है । यह शांति का परमार्थभूत उपाय ही उपादेय है । इसके उपाय के लिए बड़े-बड़े राजा महाराजा चक्रवर्तियों ने पाये हुए सर्व विभावों का त्याग किया और आध्यात्मिक मार्ग में अपना उपयोग लगाया ।

**ज्ञानवृत्ति से रहने का उपदेश—भैया !** इन अंतिम दो गाथाओं में यह सिद्ध किया है कि देख तेरा पवित्र ज्ञानानन्दस्वभाव है । तेरे में विकार आना स्वभाव का कार्य नहीं है । ये विकार परद्रव्य उपाधि का निमित्त पाकर हुआ करते हैं । तू अपने को किसी विकाररूप मत अनुभव कर । तू शुद्ध ज्ञानमात्र ही अपना स्वरूप मान और केवल जानन ही, ज्ञातादृष्टा रहना ही अपना कार्य मान । यदि इस प्रकार अपने विभक्त एकत्व स्वरूप में अपने उपयोग को लगाये तो कर्मबंध कटेंगे, मोक्षमार्ग मिलेगा, शांतिसमृद्धि की वृद्धि होगी । केवल एक यह ही मुख्य उपदेश जैन सिद्धान्त का है कि अपने को सबसे न्यारा अमूर्त ज्ञायकस्वरूप अनुभव करो । धर्म की यही जड़ है । यदि अपने को ज्ञानस्वरूप न अनुभव सके तो मन, वचन, काय के कितने भी श्रम कर डालें उनसे शांति न मिलेगी । जिस कार्य के करने का जो उपाय है वह कार्य उस उपाय से ही सिद्ध होता है ।

**अमुक्त और मुक्त होने का उपाय—समाधिशतक** में स्पष्ट बता दिया है कि हे आत्मन् ! तुझे यदि देह पाते रहना ही पसंद है तो उसका उपाय यही है कि तू देह को यह मैं हूँ ऐसा मानता जा, तुझे देह मिलते ही रहेंगे । अर्थात् तुझे जन्ममरण करना ही पसंद है तो उसका उपाय केवल यह ही है कि तू अपने को शरीररूप मानता जा और यदि तुझे जन्ममरण पसन्द नहीं है अर्थात् नये-नये देह पाना पसंद नहीं है तो तू अपने को देहरूप न मानकर सबसे अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाला ज्ञानमात्र अपने को मान क्योंकि जिससे हमारी उपेक्षा होगी उनका वियोग हो ही जायेगा । जैसे हम अपने जीवन व्यवहार में जिस मित्र से उपेक्षा करके रहते हैं वह मित्र मेरे साथ लग नहीं सकता । हम उपेक्षा किए जायें और कोई दूसरा मेरे से जुटा लगा रहे, यह तो न होगा । इसी तरह हम देह से उपेक्षा करें, देह से सर्वथा अपने को भिन्न मानें, केवल ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा की दृष्टि रखें तो यह देह कब तक मेरे साथ लगेगा ?

**आत्माश्रय का प्रताप—भैया !** इस एकत्व निश्चयगत आत्मतत्त्व की आराधना के प्रताप से ऐसी विशुद्धि बढ़ेगी, ऐसा विकास चलेगा कि हम उत्कृष्ट परिणामों से बढ़कर इन कर्मों से दूर हो जायेंगे और केवल ज्ञानधन आनन्दमय मैं आत्मा रहूंगा । तो मूल मैं यह उपाय सर्व प्रथम करना है कि तू देह से भी अपने को निराला मान । जिसने देह से न्यारा अपने आत्मस्वरूप को जाना उसने परिवार, रिश्तेदार, मित्रजन, सबसे न्यारा अपने आपको समझा ही लिया । जहाँ मोह सम्बन्धित चैतन्यपदार्थ से अपने को न्यारा परख लिया वहाँ पर विकार भाव के आश्रयभूत जड़ अचेतन पदार्थों से न्यारा तो जान ही लिया । अपने को सबसे न्यारा विकार से भी न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप देखो तो इस देह से उपेक्षा हो जाने के कारण यह देह फिर तेरे से चिपटेगा नहीं । भले ही पूर्व संस्कार और कर्मबंधन के कारण अल्प भव शेष रहें, किन्तु वे गुजरने के लिए ही

आते हैं बढ़ाने के लिए नहीं आते।

इस बंधाधिकार में सारभूत उपदेश यह किया है कि तू संसार के दुःखों से छूटना चाहता है, इन कर्मबंधनों से हटना चाहता है तो स्नेह को तज और सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूप को देख। अहा ! तब यह ज्ञानज्योति ऐसी सुसज्जित हैं और समर्थ है कि रागादिकों के उदय को मानों अदय होकर विदारण करती हुई रागादिक के कार्य को अर्थात् कर्मबन्ध को तत्काल दूर कर देती है। जब अज्ञान अन्धकार दूर हो गया तब इस ज्ञानप्रकाश का असीम प्रकाश विस्तृत हो जाता है।

इस प्रकार इस उदात्त ज्ञानपात्र के प्रतापोदय के कारण यह बन्धभाव निष्क्रान्त हो जाता है।

\* इति समयसार प्रवचन एकादशतम भाग समाप्त \*